चद्रंधर शर्मा गुलेरी

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। नीचे बैठा है मुंशी जो व्याख्या का दस्तावेज़ लिख रहा है। भारत में लेखन कला का यह सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

चंद्रधर शर्मा गुलेरी

मस्तराम कपूर

साहित्य अकादेमी

विषय-सूची

आमुख

पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी साहित्याकाश के एक अद्भुत नक्षत्र हैं, जो मात्र एक कहानी ***'उसने कहा था'*** के बल पर हिंदी-साहित्य के सम्पर्क में आनेवाली लगभग पाँच पीढ़ियों के स्मृति-पटल पर बने रहे और आगे भी बने रहेंगे। ***'उसने कहा था'*** प्रारंभिक कहानी के आदर्श उदाहरण के रूप में ज़िंदा नहीं रही अपितु अपने कालजयी सौंदर्य के कारण साहित्य के अनेक उतार-चढ़ावों से गुज़रते हुए तथा तीव्र गतिक अनेक परिवर्तनों की ताव झेलते हुए प्रत्येक पीढ़ी को मोहे रही। प्रत्येक पीढ़ी के लिए वह अपने नित-नये सौंदर्य को प्रकट करती रही। तिलस्मी और ऐय्यारी कथा-साहित्य से लेकर अमूर्त एवं कथाहीन, कहानी तक की लंबी यात्रा में वह हमेशा केंद्र-बिंदु बनी रही। कितनी ही कहानियों और उपन्यासों के शीर्षक इस कहानी से प्रेरित होकर रखे गये। यहाँ तक कि पत्रकारिता में भी 'अमुक ने कहा था···' के शीर्षक तत्काल ध्यानाकर्षण के लिए इस्तेमाल किये जाने लगे। कुछ पत्रों ने इस नाम से स्थायी स्तंभ भी शुरू किये। साहित्य-समीक्षा में एक कहानी से एक लेखक की पहचान स्थापित करने की प्रथा चल पड़ी और विविध प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि कहानी-संकलनों में इस प्रक्रिया को अपनाया गया। इसे एक हास्यास्पद सीमा तक खींचा गया कि यदि गुलेरी जी एक कहानी के बल पर अमर हो सकते हैं तो हर लेखक को अमर होने के लिए एक अच्छी कहानी लिख लेना ही काफ़ी क्यों न हो!

लेकिन गुलेरी जी ने अपने पूरे साहित्यिक जीवन में केवल एक कहानी नहीं लिखी थी। वे अपने समय के महारथी थे। उनकी दो अन्य कहानियों और एक-दो निबंधों से कुछ विद्वान लोग अवगत थे किंतु उनका शेष साहित्य पत्र-पत्रिकाओं में पड़ा रहा। गुलेरी जी के निधन के लगभग साठ साल बाद, उनकी जन्मशती के आस-पास उनके बिखरे हुए साहित्य को एकत्रित करने का काम शुरू हुआ। अब उनका अधिकांश साहित्य प्रकाश में आ चुका है लेकिन अब भी काफ़ी मात्रा में उनका साहित्य अप्राप्त है। मृत्यु के बाद लगभग साठ साल तक उनका साहित्य अँधेरे में पड़ा रहा। काफ़्का की तरह गुलेरी जी भी अपने समय के साहित्यिक

वातावरण से खिन्न रहे होंगे किंतु उन्होंने काफ़्का की तरह वसीयत में अपने किसी मित्र को यह निर्देश नहीं दिया था कि उनकी रचनाओं को जला दिया जाये। काफ़्का का साहित्य इस वसीयत के बावजूद बीस साल बाद प्रकाश में आ गया लेकिन गुलेरी के साहित्य को प्रकाश में आने के लिए साठ साल की प्रतीक्षा करनी पड़ी। विश्वविद्यालयों की शोध-योजनाओं ने इस काम में प्रेरणा दी। गुलेरी जी के पौत्र डॉ. विद्याधर गुलेरी, उनके भाई के वंश के एक विद्वान डॉ. पीयूष गुलेरी और गुलेरी जी की जन्मभूमि के रिश्ते से जुड़े हुए डॉ. मनोहर-लाल के प्रयत्नों से उनके साहित्य को प्रकाश में लाने के काम तेज़ी से चलने लगे। गुलेरी जी के समकालीन विद्वान, पत्रकार एव अतरंग मित्र पंडित झाबरमल्ल शर्मा ने इस कार्य में उनकी बहुत सहायता की और स्वयं भी 'गुलेरी गरिमा ग्रंथ' को नागरी प्रचारिणी सभा से छपवा कर इस कार्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अब गुलेरी का सम्पूर्ण तो नहीं, अधिकांश कृतित्व हमारे सामने है और हम यह जान सकते हैं कि जो लेखक एक कहानी के बल पर पाँच पीढ़ियों के मानस पर छाया रहा, वह कितना सामर्थ्यवान था।

जीवन-परिचय

पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म 7 जुलाई, 1883 को जयपुर में हुआ जहाँ उनके पिता पं. शिवराम महाराजा सवाई राम सिंह के यहाँ प्रधान पंडित एवं धर्म-व्यवस्था देनेवाली मान-मंदिर सभा के अध्यक्ष थे। पं. शिवराम का मूल निवास स्थान कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) का गुलेर नाम का गाँव है, जो पहाड़ी चित्रकला (कांगड़ा क़लम) की जन्मभूमि के रूप में प्रसिद्ध है। इसी सान्निध्य के कारण पं. चंद्रधर शर्मा के साथ गुलेरी पदनाम जुड़ा। जयपुर पं. शिवराम की कार्यस्थली थी और गुलेर के साथ तमाम पारिवारिक क्रिया-कलापों के कारण उनका संबध बना हुआ था। निरतर अपने मूल निवास-स्थान में जाना-आना होता था इसलिए बालक चंद्रधर के मन पर अपने निर्माणात्मक वर्षों में हिमालय की गोद में लेटी चिरंतन एवं चिर नूतन प्रकृति की छाप पड़ी, जिसने जीवन पर्यंत उन्हें चिरसौंदर्य और ज्ञान के नित नये रहस्योद्‌घाटन के प्रति जिज्ञासु बनाए रखा।

जिस पारिवारिक वातावरण में उनके मानस का निर्माण हुआ, उसे उनके भावी *कृतित्व को देखते हुए विशेष अनुकूल नहीं कहा जा सकता।* पुरोहिताई *खानदानी* पेशा होने के कारण घर में संध्यावंदन, पूजा-पाठ आदि नित्यकर्मों का अनुशासन था। पिता पं. शिवराम ने काशी के प्रकांड संस्कृतज्ञ पं. विभवराम से शिक्षा ग्रहण की थी और शिक्षा समाप्त होने पर हिमालय से पधारे तीन महात्माओं को शास्त्रार्थ में पराजित करके इतनी ख्याति प्राप्त की कि जयपुर के महाराजा ने उन्हें अपने प्रधान पंडित के रूप में चुन लिया था। एक दिग्गज विद्वान पिता के पुत्र के रूप में चंद्रधर शर्मा ने अपने ऊपर कई उत्तरदायित्वों का बोझ भी महसूस किया होगा। घर का वातावरण शास्त्रमय और संस्कृतमय था और कंठस्थीकरण को विद्याध्ययन का मूल एवं अनिवार्य तकनीक माना जाता है। माता की प्रेरणा से उन्होंने चार-पाँच वर्ष की अवस्था में ही संस्कृत में बातचीत करने का अच्छा अभ्यास कर लिया। पाँच-छ: वर्ष की अवस्था में उन्हें संस्कृत के तीन-चार सौ श्लोक तथा 'अष्टाध्यायी' के दो अध्याय कंठस्थ हो गये थे। घर में आए

अतिथियों के सामने वे 'अमरकोश' का सस्वर पाठ करते थे। नौ-दस वर्ष की अवस्था में वे मातृभाषा की तरह ही संस्कृत में वार्तालाप करने लगे। इसी अवस्था में एक बार उन्होंने संस्कृत में एक छोटा-सा भाषण देकर धर्म-मंडल के सदस्यों को चमत्कृत कर दिया था।

एक बार पं. शिवराम के घनिष्ठ मित्र पटियाला के पं. श्रीकृष्ण शास्त्री उनसे मिलने आये। उन्होंने आवाज दी तो एक आठ-नौ वर्ष के बालक ने शुद्ध संस्कृत में उनसे पूछा, "आप कौन है? कहाँ से आए हैं और आपका शुभ नाम क्या है?" अपने एक संस्मरण में शास्त्री जी कहते हैं कि बालक के मुँह से शुद्ध संस्कृत में प्रश्नावली को सुनकर उन्होंने अनुमान लगा लिया कि वे पं. शिवराम के घर पहुँच गये है। प्रश्नकर्त्ता बालक और कोई नही—चंद्रधर ही था।

भाई-बहनों के भरे-पूरे परिवार में पालन-पोषण होने के कारण चंद्रधर के जीवन में एकांत जीवन की कुठाओं ने प्रवेश नही किया। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण ज़िम्मेदारियों का एहसास शुरू से ही कराया गया होगा। पिता के तीन विवाह हुए। पहली पत्नी निस्संतान स्वर्ग सिधार गई थी। दूसरी से एक लड़की (विशन-देवी) थी और तीसरी से तीन लड़के (चंद्रधर, सोमदेव, जगद्धर) तथा एक लड़की (विद्यादेवी)। चंद्रधर अपने भाई-बहनों को बहुत प्यार करते थे। और उन्हें कभी भी पारिवारिक स्नेह का अभाव नहीं रहा। घर में पारंपरित प्रारंभिक शिक्षा लेने के बाद उन्होंने दस वर्ष की अवस्था में महाराजा कॉलेज में अंग्रेजी की शिक्षा आरंभ की। 1897 में उन्होंने वहाँ से मिडिल की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। दो वर्ष बाद 1899 में इलाहाबाद तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयों से ही क्रमशः एंट्रेंस तथा मैट्रिक की परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में पास कीं। 1901 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही इंटरमीडिएट प्रथम वर्ष (कला) की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर 1903 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी मनोविज्ञान, संस्कृत तथा नीतिशास्त्र लेकर बी. ए. किया तथा उत्तीर्ण छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। दर्शनशास्त्र में एम. ए. करने की तैयारी भी की किंतु अस्वस्थता के कारण परीक्षा न दे सके और घर की ज़िम्मेदारियों के साथ निर्वाह के लिए उन्हें राजकीय सेवा में आना पड़ा। 1904 में वे जयपुर दरबार की तरफ से खेतड़ी के नाबालिग राजा जयसिंह के अभिभावक बनकर मेयो कॉलेज, अजमेर में आ गये।

अध्ययनकाल में ही सृजन की चुनौतियाँ उनके समक्ष उपस्थित होने लगीं और वे उन्हे स्वीकार करते गए। 1893 में काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के चार वर्ष बाद 1897 में जयपुर में श्री जैन वैद्य की प्रेरणा से 'नागरी भवन' की स्थापना हुई। इस संस्था से 'समालोचक' नामक पत्र (अगस्त, 1902) प्रकाशित होने लगा तो गुलेरी जी को इसका सारा कामकाज देखना पड़ा था।

कुछ समय तक बाबू गोपालराम गमहरी अपने गाँव से ही इस पत्र का संपादन करते रहे किंतु फिर इसके संपादन का भार भी गुलेरी जी पर आ पड़ा। सरकारी नौकरी में होने के कारण उस पत्र में संपादक के रूप में उनका नाम नहीं जाता था किंतु साहित्य-जगत् में यह बात सर्वविदित थी कि उसके संपादक गुलेरी जी ही है।

इंटरमीडियेट की परीक्षा देने के बाद जयपुर की सुप्रसिद्ध वेधशाला, ज्योतिष यंत्रालय के जीर्णोद्धार के लिए उन्हें कर्नल सर स्विटन जैकब तथा लेफ्टिनेंट ए. एफ. गैरेट के सहायक के रूप में काम करने का अवसर मिला। गुलेरी जी ने इस काम को सहर्ष स्वीकार किया और अपनी योग्यता से इन अंग्रेज प्राच्यविदो को संतुष्ट कर दिया। उन्होंने ज्योतिष के प्रमुख एवं दुरूह ग्रथो के विशिष्ट स्थलों का अग्रेज़ी में प्रामाणिक अनुवाद करके उक्त अधिकारियों के कार्य को सुगम ही नहीं कर दिया अपितु अपनी निष्ठा और मेधा से बहुत से शोध-ग्रंथो का अनुशीलन कर जीर्णोद्धार के काम में पूरा-पूरा हाथ बटाया। अनेक यंत्रो के जीर्णोद्धार एवं शोधन में उनका स्वतंत्र योगदान रहा, जिसका यंत्र मे लगे लेखपटों पर स्पष्ट उल्लेख है। इस काम के लिए जैकब और गैरेट दोनों विद्वानों ने गुलेरी जी को प्रशंसा-पत्र दिये और राज्य की ओर से उन्हे स्वर्णपदक तथा तीन सौ रुपये मूल्य की उपयोगी पुस्तकें भेंटकर सम्मानित किया गया। यह काम 1902 में सम्पन्न हुआ। उनके इस कार्य को देखते हुए 1904 मे कश्मीर के तत्कालीन रेजिडेट कर्नल टी. सी. पीयर्स ने जयपुर दरबार से अनुरोध किया कि चंद्रधर शर्मा गुलेरी को खेतड़ी के नाबालिग राजा जयसिंह का अभिभावक नियुक्त किया जाए। तदनुसार वे राजकुमार जयसिंह के अभिभावक होकर मेयो कॉलेज, अजमेर आ गये। छात्रावास में ही एक कमरा उनके निवास के लिए नियत किया गया था। यहाँ वे अपना भोजन स्वयं बनाते थे और बड़ी सादगी से रहते थे। राजा राजकुमारों के वैभवपूर्ण वातावरण के बीच वे शुद्ध सनातनी जीवन पद्धति को अपनाये रहे। 1907 में उन्हें जयपुर भवन का मोतमिद बना दिया गया। जयपुर भवन छात्रावास के अधीक्षक के रूप में वे जयपुर राज्य के समस्त सामंत पुत्रों की देख-भाल करने लगे। स्वयं अनुशासन में बँधे होने के कारण विद्यार्थियों पर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पडा। अधीक्षक के पद पर रहते हुए वे मेयो कॉलेज के संस्कृत-विभाग मे अवैतनिक रूप से संस्कृत पढ़ाने का काम भी करते रहे। 1916 में महामहोपाध्याय पडित शिवनारायण जी के सेवानिवृत्त होने पर संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष पद पर उन्हें नियुक्त किया गया और इसके लिए जयपुर सरकार की ओर से विशेष स्वीकृति ली गयी ताकि वे अधीक्षक के पद के साथ-साथ संस्कृत विभाग के अध्यक्ष का पद सँभाल सकें क्योंकि गुलेरी जी आर्थिक हानि के कारण अधीक्षक के पद को नही छोड़ना चाहते थे। इस प्रकार 1904 से 1922 तक गुलेरी जी अजमेर में मेयो कॉलेज से अध्यापक एवं छात्रावास के अधीक्षक

के नाते संबद्ध रहे । इस अवधि में ही उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ लिखीं ।

दो-दो पदों पर काम करते हुए, बचे हुए समय में उन्होंने अगणित ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया, अनेक प्रसिद्ध पत्रिकाओं के लिए लेख, कहानियाँ लिखी, पुरातत्त्व संबंधी खोजो पर मार्मिक टिप्पणियाँ लिखी, 'समालोचक', तथा बाद में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सपादन किया, 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक-माला' तथा 'सूर्यकुमारी पुस्तकमाला' के अंतर्गत कुछ पुस्तकें संपादित कीं और 'इंडियन एंटीक्वेरी' में प्राचीन इतिहास के संबंध मे टिप्पणियाँ लिखी । उनकी सृजन-शक्ति के अजस्र प्रवाह के कारण तत्कालीन साहित्य महारथियो में गुलेरी की गणना पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, प्राचीन इतिहास, वैदिक सस्कृत, संस्कृत, पालि तथा प्राकृत के श्रेष्ठतम विद्वानो में होने लगी ।

उनकी ख्याति से प्रभावित होकर महामना पंडित मदनमोहन मालवीय ने उन्हें काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आने का निमंत्रण दिया । गुलेरी जी सरकारी नौकरी को नहीं छोड़ना चाहते थे। वे टाल-मटोल करते रहे। मालवीय जी ने गुलेरी जी की सेवाओं को उधार लेने के लिए जयपुर राज्य और भारत सरकार से अनुमति प्राप्त कर ली और तब कहीं गुलेरी जी अठारह महीनों के डेप्युटेशन पर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के प्राच्य विभाग के कार्यवाहक प्राचार्य तथा मनीन्द्र-चंद्र नंदी पीठ के प्रोफेसर के पद पर आ सके। बनारस के लिए उनका प्रस्थान पुत्री के असामयिक देहांत के कारण कुछ समय के लिए टल गया । फिर 11 फरवरी, 1922 को उन्होंने विश्वविद्यालय में अपना कार्यभार सँभाला । किंतु गुलेरी जी को काशी आना फला नही। जिन सपनों को लेकर काशी आये थे, वे अधूरे ही रह गए। यहाँ आने के कुछ समय बाद उनके छोटे भाई सोमदेव का अचानक जयपुर में देहांत हो गया । पुत्री के देहांत के तुरंत बाद यह दूसरा धक्का लगा, जो उनके लिए असह्य सिद्ध हुआ । सोमदेव जयपुर मे रहकर घर का सारा काम-काज देखते थे । अब उनकी गृहस्थी भी उखड़ गयी और सारे परिवार को उन्हें काशी लाना पड़ा । अभी इस सदमे से सुस्थिर नहीं हो पाए थे कि उनकी छोटी भाभी, जगद्धर की पहली पत्नी स्वर्ग सिधार गयीं। कुछ समय पहले गुलेरी जी को पीलिया का भयंकर आक्रमण हुआ और वे सूख कर काँटा हो गए थे। कहते हैं किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति ने उन्हें कुछ खिला दिया, जिससे उन्हें पीलिया हुआ । जैसे-तैसे उस रोग पर उन्होंने क़ाबू 'पा लिया और पहले की तरह स्वस्थ दिखाई देने लगे । लेकिन प्रियजन वियोग का आघात उन्हें भीतर ही भीतर खोखला किये जा रहा था। हालाँकि वे अपने प्रियजनों मे कहा करते थे, "मेरा जीना और स्वस्थ रहना बहुत ज़रूरी हो गया है," किंतु परिस्थितियाँ उनकी इच्छा-शक्ति पर हावी होती जा रही थी ।

छोटी भाभी के अंतिम संस्कार के समय उन्हें हलका-सा ज्वर था। वे गंगा

स्नान नहीं करना चाहते थे किन्तु एक संबंधी के उकसाने पर उन्हें वस्त्रों सहित गंगा-स्नान करना पड़ा। उसके बाद उन्हें मंद ज्वर रहने लगा लेकिन वे अपने स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए भाभी के क्रिया-कर्म आदि संस्कारों में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जुटे रहे। हर रोज वे भेलुपुरा से नंगे पैर विश्वविद्यालय जाते और कड़कती धूप में वापस लौटते। उनकी पत्नी उन्हें स्वास्थ्य का ध्यान रखने को कहती, तो वे अपने हृष्ट-पुष्ट शरीर की तरफ इशारा करके उन्हें चुप करा देते। अचानक एक दिन उनका बुखार तेज हो गया। डॉक्टर बुलाया गया। कुनैन दी गई। बुखार उतर गया लेकिन शाम फिर तेज हो गया। दूसरे दिन हालत और बिगड़ गई। डॉक्टरों की जी-तोड़ कोशिश के बावजूद उस पर क़ाबू नहीं पाया जा सका। 12 सितम्बर, 1922 को उनका निधन हो गया। उस समय वे मात्र 39 वर्ष दो महीने और पाँच दिन के थे। उनके अंतिम समय का मार्मिक चित्र उनके बेटे योगेश्वर गुलेरी ने अपने एक लेख में किया था। इसमें से एक अंश इस प्रकार है—

"···माँ ने मुझे डॉक्टर अमरनाथ के यहाँ भेजा। वे लौटे न थे। माँ की संतप्त मुखमुद्रा की याद करके मैं बिना डॉक्टर साहब को साथ लिये लौटना न चाहता था। डॉक्टर साहब न जाने कब आएँ, यही सोच मैं सिविल सर्जन के यहाँ जा पहुँचा। अंग्रेजी बोलकर उसे साथ ले आया। उसने भी मलेरिया ही बताया और क्लोरीन मिक्सचर जारी रखने को कहा। ज्वर बढ़ता जा रहा था, प्रलाप होने लगा था। रात के दस बजे तक न छोटे चाचा जी आए थे और न डॉक्टर अमरनाथ। माँ खुद बड़ी बहन को लेकर ताँगा करके बाबूजी के घर गई। वे घर पर न थे। श्रद्धेय आचार्य शुक्ल जी ने तत्क्षण बंगाली टोले के एक प्रसिद्ध डॉक्टर को उनके साथ भेजा व थोड़ी देर बाद अपने पुत्रों सहित स्वयं भी वहाँ आ गए। इन डॉक्टर साहब ने भी मलेरिया ही बताया पर कहा—अब ब्रेनफ़ीवर भी हो गया है। डॉक्टर की मुखमुद्रा देखकर बड़ी बहन ने मुझे अलग ले जाकर कहा—"यह डॉक्टर बुरा मानेगा, सो चुपचाप भाग जा और सिविल सर्जन को ले आ। वे न मिलें तो जो भी डॉक्टर मिले, जितने ला सकें, ले आ। मुन्नू, जल्दी कर।"

"बाहर आते ही मुझे ताँगा मिल गया। रात के बारह बजे उन नीरव सडको पर ताँगा दौड रहा था और मैं सोच रहा था कि बड़े भाऊ से कल कहूँगा कि मैं ऐसे गया, यह किया, वह किया। अब की बार आकर परीक्षा के बाद सिविल सर्जन भी गंभीर हो गया। तापमान 107 डिग्री था। दोनों डॉक्टरों ने ज्वर कम करने के लिए फौरन नंगा करके बर्फ़ पर लिटाने की राय दी। प्रलाप चल रहा था—राजतिकमल···आदि। बाद में विजय चंद्र वेदपाडि ने, (जो क्वीन्स कॉलेज मे कर्मकांड व वेद के प्रोफ़ेसर व पिता

जी के शिष्य थे) रात के दो बजे इन्हीं शब्दों को सुनकर कहा था—ये शतपथ ब्राह्मण पर एक जर्मन विद्वान की टीका का खंडन कर रहे हैं। मुझसे पिछले सप्ताह इस बारे में बातें हुई थीं।

"मैं और नौकर ताँगा लेकर बर्फ़ लेने दौड़े। कहीं न मिलती देख बर्फ़-खाने गए और दो मन की दो सिल्ली उठा लाये। पिताजी को उन सिल्लियों पर लिटाया गया। फिर जब तौलिये से पोंछकर बिस्तर पर लिटाने लगे, तो वे होश में आ गए थे। "हटो" कहकर, हम कुछ कहें, इसके पहले ही एक झटके-के साथ पड़े कुशासन पर जा बैठे। "विजयचंद्र जी, गीता सुनाओ" कहकर वे वहीं लेट गए। विजयचंद्र जी चुप रहे। पर फिर एक डाँट और खाकर रोती आवाज में उन्होंने विराटरूप दर्शन का पाठ शुरू किया। थोड़ी देर बाद पिताजी बोले, "विजया, (मेरी बड़ी बहन) रुद्राक्ष ला।" बड़ी बहन माला उठा लायी। पिताजी अंतिम बार हँसे और बोले—"योगा मेरे कैश-बाक्स में बिना बिंधे रुद्राक्ष हैं, सिरहाने से चाबी ले ले।" मैं निकालकर लाया और विजयचंद्र जी ने उनके इशारे पर वह उनकी चोटी से बाँध दिया। इसके बाद बहन ने टेम्परेचर लिया, 109 डिग्री से ऊपर था। फिर वे कुछ देर निश्चेष्ट से पड़े रहे। तत्पश्चात् उन्होंने आँखें खोल दीं। बाहर अनेक लोग आ गए थे। गऊदान हुआ, स्वर्णदान दिया गया और न जाने क्या-क्या हुआ। मेरी चेतना लुप्त-सी हो चुकी थी। मैं सब देख रहा था, कर रहा था, पर समझ कुछ भी नहीं पा रहा था।

पिताजी ने नेत्र बंद कर लिए। विजयचंद्र जी ने झुककर पिताजी के कान के पास ज़ोर से कहा—"ॐ नमः शिवाय च।" पिताजी ने हिचकी ली और आँखें सदा के लिए खोल दीं। उस समय प्रातःकाल के चार बजे थे।"

पारिवारिक परिस्थितियाँ

गुलेरी जी का विवाह बीस-इक्कीस वर्ष की अवस्था में हरिपुर निवासी कवि रैणां की सुपुत्री पद्मावती से हुआ। कहते हैं, उनके पिता ने कांगड़ा के गरली गाँव में विवाह निश्चित किया था। शादी से कुछ दिन पहले लड़की के पिता का देहांत हो गया और विवाह रुक गया। पं. शिवराम बेटे की शादी किए बिना जयपुर नहीं लौटना चाहते थे। उन्होंने तुरंत हरिपुर निवासी कवि रैणां की सुपुत्री से विवाह की बात तय कर ली। चंद्रधर न पहली कन्या से परिचित थे और न दूसरी से। परंपरा अनुसार उन्होंने अनदेखी लड़की से विवाह किया और उसे अंतिम समय तक निष्ठा के साथ निभाया। पद्मावती सुदर, सुशील और सुपठित थीं किंतु स्वभाव से कुछ कर्कशा थीं। कुछ लोगों ने उनकी कहानी 'बुद्धू का काँटा' की वाक्विदग्ध भागवंती को ही पद्मावती सिद्ध करने का प्रयास किया है किंतु यदि ऐसा होता तो शादी के बाद दोनों व्यक्तियों का टकराव अवश्य सामने आता। ऐसी कोई बात उनके वैवाहिक जीवन में नहीं दिखाई दी। तनाव की स्थितियाँ जरूर आती थीं लेकिन वह वैसा ही तनाव था जैसा अपनी दुनिया में डूबे अत्यंत संवेदनशील बुद्धिजीवी पुरुष और सांसारिक चिंताओं से घिरी हुई एक सरल पत्नी के बीच पैदा हो सकता है। पत्नी की मन:स्थिति को समझते हुए गुलेरी जी अक्सर तनाव के क्षणों पर अपनी विनोदवृत्ति से क़ाबू पा लेते थे। पत्नी अगर कभी क्रुद्ध होती तो वे छड़ी उठाकर घूमने निकल जाते। लौटकर चुटकी लेते हुए पूछते, "क्या अब कोप शांत हो गया है ?" और पत्नी हँस देतीं।

मित्रों को लिखे पत्रों में पत्नी का उल्लेख प्राय: 'ब्राह्मणी', 'ग़रीब ब्राह्मणी', 'घर में से', आदि के रूप में आया है। काशी जाते समय रानी सूर्य कुमारी को लिखे एक पत्र में गुलेरी जी कहते हैं—

> "पिछले दिन से सामान बाँध रहा हूँ।...सामान आदि सम्हालने में मैं बिल्कुल ब्राह्मणी के परवश हूँ। ऐसी परिश्रमी तथा चतुर स्त्री अपने रोग के रहते हुए भी इतना काम सम्हालनेवाली विधि प्रपंच महं सुना न दीसा।"

प्रतापगढ़ की राजमाता चंद्र कुमारी को लिखे एक पत्र मे, पत्नी का सुख समाचार "घर में से भी अच्छी हैं" कहकर देते हैं।

उनके दो पुत्र (योगेश्वर और शक्तिधर) तथा दो पुत्रियाँ (अदिति और विजया) हुईं। अदिति का निधन तेरह वर्ष की अल्पायु में हो गया। इन बच्चों को गुलेरीजी ने पिता का भरपूर प्यार दिया। इनके अतिरिक्त अपने छोटे भाई-बहनों को भी उन्होंने पिता का प्यार दिया। 1910 में पिता पं० शिवराम के स्वर्गवास के समय मँझले भाई सोमदेव की अवस्था इक्कीस वर्ष की और छोटे भाई जगद्धर की सत्रह वर्ष की थी। जाहिर है, इन दोनों भाइयों की पढ़ाई-लिखाई का उत्तरदायित्व भी इन्हें ही उठाना पड़ा। विद्यावती का विवाह पिता के जीवित रहते ही हो गया था। घर में सब उन्हें भाऊ कहकर बुलाते थे। संयुक्त परिवार की प्रथा के अनुरूप पिता के देहांत के बाद गुलेरी जी घर के मुखिया बने। छोटे भाई जगद्धर की नियुक्ति कृषि कॉलेज, लायलपुर (पश्चिम पंजाब) में हुई तो उन्हें इतनी खुशी हुई कि उस खुशी को उन्होंने दूर-दराज के संबंधियों, चचेरे भाइयों आदि से भी बाँटना उचित समझा। इस अवसर पर अपने चचेरे भाई रामलाल को लिखे एक पत्र में वे लिखते हैं—

> "अपने अनुज जगद्धर गुलेरी की नियुक्ति के शुभ अवसर पर न केवल वे सभी को हर्ष का भागी समझते है बल्कि अपने घर के निकट पहुँचने पर, पंजाब में फिर से पाँव जमाने पर उन्हें आत्मिक सतोष है।"

लायलपुर में छोटे भाई को कोई तकलीफ़ न हो इसलिए गुलेरी जी अपने चचेरे भाई को आगे लिखते हैं—

> "लायलपुर में अपने जजमानों को कुछ जमीनें मिली हुई हैं, उनमे से कोई वहाँ हो तो भाई मोतीराम लिखा दें कि जगद्धर से मिलें। नये स्थान में उसे कुछ घबराहट होगी, अतएव मैंने मित्रों से पत्र लिखवाकर प्रबंध तो कर दिया है, तथापि देश का आदमी मिलने से हर्ष होता है।"

गुलेरी जी के छोटे पुत्र शक्तिधर की शिक्षा जगद्धर की देख-रेख में ही हुई। मँझले भाई सोमदेव के ऊपर जयपुर में संयुक्त परिवार की देखभाल का काम था। भाइयों के प्रति उनका प्यार इस सीमा तक था कि सोमदेव की मृत्यु के बाद वे अपने को पूरी तरह टूटा हुआ महसूस करने लगे और अधिक दिन नहीं जी पाए।

संतान के प्रति उनका रवैया कठोर अनुशासनप्रिय पिता का नहीं था। बच्चों के साथ हँसी-विनोद चलता रहता था और अपने अत्यंत व्यस्त जीवन से भी कुछ समय वे बच्चों के लिए अवश्य निकाल लेते थे। हर शाम बड़े बेटे योगेश्वर को अंग्रेज़ी सिखाने के लिए उससे अख़बार पढवाते थे। एक बार योगेश्वर ने गोखले को गोखेल पढ़ दिया तो गुलेरी जी ने योगेश्वर के संदर्भ में अख़बार को गोखल

कहना ही शुरू कर दिया। इस शब्द को लेकर वे अंत तक पुत्र से मनोविनोद करते रहे। बड़ी लड़की विजया की बात-बात में रोने की आदत थी तो उसे वे 'में, में' नाम से ही बुलाने लगे। योगेश्वर के साथ 'टेबल' और 'गोखेल' शब्दों को लेकर तो वे अपने अंतिम समय तक हँसी-मज़ाक करते रहे। योगेश्वर ने एक बार अपने लिए मेज़ की आवश्यकता से पिता को अवगत कराते हुए कह दिया था, "मैं जबपुर हाउस से आपकी टेबल-कुर्सी उठा लाऊँगा, आप दूसरी ले लेना।"

इस पर गुलेरी जी ने पुत्र को एक महाराजकुमार की कथा सुनाई, जिसने *बाप की गद्दी हथियाने के लिए उनकी शीघ्र मृत्यु के लिए एक तांत्रिक अनुष्ठान* कराया था। इसके बाद वे पुत्र से बोले, "तू भी महाराजकुमार है क्या बेटा? मैं जल्दी ही तुम्हें टेबल दूँगा।"

उन्होंने दूसरे दिन बेटे के लिए टेबल मँगा दी लेकिन इस बात को लेकर अंतिम समय तक हँसी-मज़ाक चलता रहा। योगेश्वर अपने एक संस्मरण में बताते हैं कि जब पिता की तबीयत बहुत ख़राब होने पर वे विश्वविद्यालय के कुछ मित्रों को बुला लाये तो मेहमानों को विदा करने के बाद पिताजी बोले, "बेचारे युनि-वर्सिटी से भूखे-प्यासे घर जा रहे थे, व्यर्थ ही पकड़ लाया। दिखा लिया वर्षफल? घबराता क्यों है बेटा, तुम्हें जल्दी ही टेबल मिलेगी।" एक दिन हालत बहुत खराब हो गई और उनकी पत्नी ने दुःस्वप्न देखा तो वह पति के पास जाकर बोली, "गाय मँगवाती हूँ। संकल्प कर दीजिए।" इसपर गुलेरी जी ने हँसकर कहा, "जो टेबल लेगा वह गाय देगा।"

इसपर श्रीमती गुलेरी चिढ़कर कमरे से बाहर चली गईं।

संयुक्त परिवार के मुखिया के रूप मे गुलेरी जी प्रायः अनेक पारिवारिक समस्याओं से घिरे रहते थे। किसी की शिक्षा, किसी की नौकरी, किसी का स्वास्थ्य। स्वयं अजमेर रहते थे, परिवार जयपुर था और मूल स्थान गुलेर में भी चचेरे भाइयों के परिवारों के सुख-दुःख में शरीक होते थे। कभी जब समस्या चारों तरफ़ से घुमड़ आती थी तो विचलित भी हो जाते थे। खेतड़ी की छोटी राजकुमारी चंद्रकुमारी को लिखे कुछ पत्रों में उनकी यह व्यवस्था झलकती है। 27 अगस्त, 1920 को लिखे एक पत्र में वे कहते हैं—

> "पिछले पंद्रह दिन बड़ी चिंता में बीते। घर में (पत्नी की) प्रकृति बहुत खराब हो गई थी। आठवाँ मास था। किंतु बड़ा विघ्न हुआ। तीन-चार दिन तो कई प्रकार के भय रहे। जयपुर में चि. सोमदेव के पुत्र हुआ है, जिसे अभी सोलह दिन ही हुए हैं।
>
> "एक तरह पुनर्जन्म हुआ है।
>
> "सोमवार की रात्रि को कन्या-प्रसव हुआ, जिसमें भी असमय तथा विपरीत होने से बहुत क्लेश पाया। अब तो दोनों विजाता और जाता प्रसन्न

हैं। दुर्बलता बहुत हो गई है। सँभाल जहाँ तक हो सकती है, हो रही है। आप चिंता न करें।"

फिर 30 अक्तूबर को एक अन्य पत्र में लिखते है—

"मेरा चित्त इन दिनों बहुत खिन्न रहा। पहले तो देश में (गुलेर) मेरे बड़े (चचेरे) भाई रामलाल जी की अचानक मृत्यु का समाचार आया फिर उनके छः दिन बाद ही दूसरे चचेरे भाई मोतीराम जी का स्वर्गवास हो गया। दोनों पिताजी महाराज के भतीजे, उनके पुत्र की तरह पाले हुए शिष्य और उनकी संपत्ति के भोगी थे। पुराने समय की यही कड़ी बाक़ी थी। अब घर में मैं ही बड़ा रह गया। अबके छुट्टियों में देश जाकर मिल आया था। यह भी अदृष्ट की कोई प्रेरणा थी। यहाँ हम प्रसन्न हैं, दुर्बलता और कलेजे की जलन है। कन्या भी प्रसन्न है। बुआजी को जयपुर भेज दिया था क्योंकि वहाँ बच्चा छोटा है और उसकी माता अनुभवी नहीं है। पत्र में विलंब के लिए क्षमा कीजिएगा। एक कारण तो दो देशस्थ भाइयों के मरने के कारण मेरे चित्त की व्यग्रता थी। एक भाई की तो माता, मेरी चाची (जो बुआजी की अवस्था की हैं) बैठी है। उनके चार कन्याएँ है। दो का विवाह कर गये। दो छोटी हैं। एक पुत्र बारह वर्ष का, दो वर्ष हुए नदी में डूबकर मर गया था, एक साढ़े चार वर्ष का है। मेरी भाभी बहुत बीमार और शिथिल हैं। दूसरे के एक पुत्र मेरी अवस्था का है। दो पौत्र है। स्त्री नहीं है।"

इन पत्रों से उनके पारिवारिक जीवन के संघर्ष का एक चित्र बनता है। भाइयों को लिखाया-पढ़ाया और उपयुक्त जीविका पर लगाया। पुत्रों की समुचित शिक्षा का प्रबंध किया। बड़ी बेटी विजया का विवाह 1917 में किया। छोटी बेटी अदिति का तेरह वर्ष की अवस्था में वियोग सहा। कनिष्ठ भाई की पत्नी के स्वर्गवास का सदमा लगा और अंत में मँझले भाई सोमदेव का बिछोह सहना पड़ा।

आर्थिक स्थिति बहुत सुविधाजनक नहीं रही। जैसे-तैसे परिवार का खर्च चल जाता। शायद आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही वे परिवार को अजमेर में अपने साथ नही रख सके। वहाँ बुआजी ही उनके लिए भोजन आदि बनाती थी। अजमेर प्रवास के दिनों में उन्होंने दो भागीदारों के साथ मिलकर एक मकान खरीदने की योजना बनाई और उसके लिए क़र्ज़ जुटाने की समस्या खड़ी हुई। उस समय राजकुमारी श्रीमती बाईजी लाल को लिखा—

"श्रीमती से आज एक प्रार्थना करता हूँ। श्रीमती ने कई बार मुझसे पूछा कि मेरी आर्थिक अवस्था कैसी है और मेरे ऊपर ऋण कितना है इत्यादि किंतु मैंने उत्तर नहीं दिया। मेरा विचार कभी श्रीमती से आर्थिक सहायता लेने का नहीं है, तथा परमेश्वर योगक्षेम के निर्वाह लायक़ दे देता है, बचा न सकता। बीमारी और डॉक्टर न हों तो यह भी हो सके। भवतु, इस

समय एक प्रस्ताव श्रीमती से करता हूँ…(1) आप मुझे पाँच हज़ार रुपये उधार दीजिए। (2) मैं ता० 15 जनवरी तक 1500 रुपये तो श्रीमती को वापस कर दूँगा जो मेरा इधर-उधर जमा है। (3) पीछे प्रतिमास 100 रुपये श्रीमती को देता जाऊँगा जबतक कि रुपया न चुक जाए। (4) सूद मैं नहीं दे सकता। सूद दे सकता तो श्रीमती को कष्ट न देता। (5) यह प्रबंध तारीख बीस तक होना चाहिए। (6) यदि श्रीमती 5000 न दे सकें तो 2500 रुपये ही दें। रत्नशाह तथा मैं आधा-आधा हिस्सा कर लेंगे। (7) 2500 रुपये की अदायगी का भी वह क्रम रहेगा जो ऊपर (5) और (3) में कहा गया है।"…

आगे वे लिखते हैं—

"इधर-उधर हाथ-पैर बहुतेरे मारे, दिमागी कसरत भी खूब की गई कि उनके पास कौन-सी संपत्ति है, जिससे धन प्राप्त हो सके। पत्नी तक के गहनों का भी अनुमान लगाया गया, पर बात न बन सकी तभी माँगना पड़ा। …मेरे पास गहना (मेरे स्त्री का) इतना नहीं कि उस पर पाँच क्या दो हज़ार भी मिल सकें। कुछ ऋण भी है। मेरे मन में जो आया वह श्रीमती को लिख दिया। यदि हो जाए, तो घर से बाहर निकाले जाने की चिंता हट जाए।"

इस तरह रक़म जुटाने के बाद जो मकान ख़रीदा वह, रत्नशाह के नाम करवा दिया क्योंकि उन्होंने सोचा कि रत्नशाह के पास तो मकान ही नहीं है जब कि उनके पास गुलेर में तो एक है।

इन सारी विकट परिस्थितियों से जूझते हुए लगभग अठारह वर्ष के कार्यकाल में वे विविध प्रकार के उच्चकोटीय साहित्य का सृजन करने में समर्थ हुए। इससे स्पष्ट होता है कि उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी क्षमताएँ थीं, जिनके कारण वे अपनी परिस्थितियों पर क़ाबू पाते हुए, उनके तमाम दबावों और बंधनों से अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति के बल पर ऊपर उठते हुए मौलिक ढंग से इतिहास पर क्रिया कर सके। उच्चकोटि के सृजन के लिए यह नितांत आवश्यक है कि लेखक सांयौगिक परिस्थितियों की जकड़न से मुक्त होकर स्वतंत्र मन से सोचे और तदवत् उन्हें क्रियान्वित करे। गुलेरी जी में इस गुण का विकास उनके व्यक्तित्व का प्रमुख आकर्षण है।

गौरवर्ण, लगभग छः फुट ऊँचा हृष्ट-पुष्ट शरीर, विशाल वक्षस्थल, चौड़ा और ऊँचा ललाट, भरा हुआ प्रभावशाली चेहरा, तेजोमय आँखों पर मोटे शीशे की ऐनक, घनी बरौनियाँ, प्लाई कट मूँछें और सागर की तरह गंभीर—ऐसे थे चंद्रधर शर्मा गुलेरी। लंबे और बड़े-बड़े कान, बारीक होंठ, लंबी भुजाएँ। सिर बहुत बड़ा, जिस पर छोटे-बड़े घने बाल। सिर पर जयपुरी गोल पगड़ी, प्राचीन शैली की तनीदार बगलबंदी, स्वच्छ निर्मल पटलीदार धोती और पैरों में देसी

चोंचदार जड़ाऊ जूती—आजीवन उनका यही परिधान रहा। माथे पर त्रिपुंड्र-गले में दुपट्टा और बगलबंदी के ऊपर बड़े-बड़े रुद्राक्षवाला कंठा। राजदरबार में आना होता तो लाल वस्त्र और हाथों में कड़े पहनते। आपस में बातचीत करते समय थोड़े-से हकलाया करते, परंतु भाषण और अध्यापन के समय अबाध गति से बोलते चले जाते थे।

ब्राह्ममुहूर्त में सोकर उठते। उठते ही ईश्वर-स्मरण करते हुए ज़ोर-ज़ोर से अँगड़ाइयाँ लेते। उस समय उनकी हड्डियों के चटखने की विशेष ध्वनि होती थी। स्नानादि के बाद वैदिक रीति से तीन-चार घंटे संध्या करते। दोनों बेला ईश्वर भजन उनके दैनिक जीवन का अपरिहार्य अंग था। भोजन शुद्ध सात्त्विक। मांस आदि की बात दूर रही, लहसुन और प्याज को छूते तक नहीं थे। दूध और घी का विपुल प्रयोग करते थे। चाय बहुत कम, कभी-कभी शीतकाल ही में लिया करते। ग्रीष्मकाल में पोस्त, गुलाब, और प्रचुर मात्रा में काली मिर्चवाली ठण्डाई उनका मनभाता पेय था। सिगरेट और पान तक को नहीं छूते थे। लेकिन सुपारी खाने का शौक़ था। प्रायः साबुत सुपारी मुँह में डाल लेते और धीरे-धीरे चबाते-चूसते रहते। कभी-कभी नसवार भी सूँघते। विशेषकर तब जब गौरीशंकर हीराचंद ओझा और गुलेरी जी के बीच विचार-विमर्श चलता रहता। भूमि अथवा तख्त-पोश पर उलटे लेटकर कभी पेट और कभी वक्ष के नीचे तकिया दबाए हुए वे कार्य करते। लिखते समय आत्म-विस्मृत हो जाया करते जैसे कोई योगी समाधिस्थ होता है। कोई व्यक्ति बीच में आ जाता तो आँख उठाकर देख भर लेते और फिर काम में डूब जाते। वे समय की पाबंदी के बड़े कायल थे; जो कार्य जब होना चाहिए, होकर रहता था। मालवीय जी और बाबू श्यामसुंदरदास जैसे घनिष्ठ मित्र भी उनकी इस आदत से परिचित थे और वे इस बात का ध्यान रखते थे कि गुलेरी शाम को किस समय अपने बेटे को अंग्रेज़ी सिखाने में व्यस्त होंगे।

नियमानुशासनाबद्ध दिनचर्या के कारण वे अपने प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करने में समर्थ हुए। समय और शक्ति का अपव्यय करनेवाले किसी व्यसन को उन्होंने नहीं पाला। पारंपरित संस्कारों और पारिवारिक वातावरण के कारण वे निरे शास्त्रकीट भी बन सकते थे किंतु वे संकुचित घेरे में बँधकर नही रहे अपितु उनकी प्रतिभा नित नये क्षेत्रों का अनुसंधान करने मे और आस-पास होने-वाले नित नये परिवर्तनों से जुड़ने के प्रति जागरूक रही। पुरातत्त्व और इतिहास के प्रति विशेष रुचि होते हुए भी समकालीन राजनैतिक-सामाजिक आंदोलनों के प्रति सजग रहे और साहित्य की नयी-नयी चुनौतियों को स्वीकार करते गये। अपना अधिकांश समय उन्हें राजकुमारों और सामंतकुमारों के अभिभावक एवं अध्यापक के रूप में बिताना पड़ा। लेकिन उस वातावरण के अनुरूप किसी तरह की शारीरिक अथवा मानसिक अय्याशी को अपने जीवन में नहीं पनपने दिया।

सरकारी नौकरी के बंधन उनपर हमेशा रहे लेकिन वे उन्हें स्वतंत्रता आंदोलन की गतिविधियों पर, या विदेशी शासकों की धींगामुश्ती पर लिखने से नहीं रोक पाये। बंगभंग के समय लिखी गयी उनकी तीखी टिप्पणियाँ इसका उदाहरण हैं। कट्टर सनातनी होते हुए भी वे स्त्रियों के अधिकारों तथा अन्य सामाजिक सुधारो के हामी रहे और जातीय दम्भ जैसी बुराइयों से मुक्त रहे।

"रूखी-सूखी खायके ठंडा पानी पी" वाली मस्ती का जीवन जीने के अभ्यस्त होने के कारण वे अपने समय के धुरंधर और दिग्गज लोगों के सम्पर्क में आने पर उनके कृपाकांक्षी नहीं बने। सबके साथ बराबरी का संबंध बनाये रखा और किसी की धौंस बर्दाश्त नहीं की। महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे संपादक को, जो हर लेखक की रचना में संशोधन करने के लिए प्रसिद्ध थे, गुलेरी जी का 'आँख' निबंध सरस्वती में अविकल रूप से छापना पड़ा था। उन्होंने संशोधन करने की इच्छा व्यक्त की थी किंतु गुलेरी जी उन्हें उस विषय में हस्तक्षेप करने का अधिकारी नहीं समझते थे, इसलिए उन्होंने कड़ा पत्र लिखकर काट-छाँट करने का निषेध किया था। आखिर, द्विवेदी जी को यह निबंध ज्यों का त्यों छापना पड़ा था।

साहित्यिक वातावरण

गुलेरी जी का लेखकीय जीवन बीसवीं शताब्दी के उन्मेष से प्रारंभ होता था। यह समय कविता, कहानी, नाटक आदि के सीमित अर्थ में साहित्य का युग नहीं था, यद्यपि इसमें आधुनिक साहित्य लिखा जाने लगा था और भारतेन्दु काल के लेखकों ने प्रचुर मात्रा में साहित्य-सृजन किया था एवं कर रहे थे। लेकिन इसकी प्रबल धारा थी भारत विद्या, पुरातत्त्व, इतिहास तथा भाषाविज्ञान संबंधी अनुसंधानों की। स्वामी दयानन्द आदि धर्म एवं समाज सुधारकों ने प्राचीन वाङ्मय के मंथन, खंडन-मंडन एवं अभिनव निर्वचन का जो सिलसिला शुरू किया था, वह अपने वेग से तत्कालीन विद्वानों के मन-मस्तिष्क को आंदोलित कर रहा था। उधर भारत विद्या और पुरातत्त्व के प्रति आकृष्ट ज्ञान-पिपासु पश्चिमी विद्वान तथा गोरी चमड़ी के दैवी भार को ढोनेवाले साम्राज्यपोषी विद्वान अपने-अपने ढंग से धर्म, इतिहास, भाषाविज्ञान आदि विषयों पर लिख रहे थे। प्राचीन ग्रंथों की खोज और उनके प्रकाशन की जी-तोड़ कोशिश हो रही थी। 1893 ई० में स्थापित काशी नागरी प्रचारिणी सभा प्राचीन साहित्य की खोज-संबंधी इन गतिविधियों का केंद्र बन गयी थी और उसके आस-पास उस समय के दिग्गज विद्वान जुटे हुए थे। एक तरफ़ सर विलियम जोंस और मैक्समूलर के उत्तराधिकारी डा. बूलर, डॉ. कीलहार्न, डॉ. ग्रियर्सन, डॉ. वी. ए. स्मिथ, डॉ. बर्जेस, डॉ. ल्यूडर्स, डॉ. स्कूनर, सर जान मार्शल, डॉ. भंडारकर, पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा जैसे विद्वानों से गुलेरी जी सम्पर्क में आये, दूसरी तरफ़ उनका सम्पर्क साहित्य की धारा से जुड़े हुए विद्वानों से हुआ, जिनमें बाबू श्यामसुंदरदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, माधव मिश्र, राधाकृष्ण मिश्र, रायकृष्णदास, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़, बालमुकुन्द गुप्त, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, केदारनाथ पाठक, गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, हरिनारायण पुरोहित, काशीप्रसाद जायसवाल, ज्वालाप्रसाद शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथ चतुर्वेदी और दीनदयालु शर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

रजवाड़े की सरकारी नौकरी में असाहित्यिक कार्य-कलापों में अपना अधिकांश

समय व्यतीत करने और नौकरी के अनेक प्रतिबंधों के बावजूद गुलेरी जी लगभग बीस वर्षों के कार्यकाल में जितना कुछ लिख पाये, वह एक असाधारण उपलब्धि है। 1901-1902 के बीच जैकब और गैरेट के साथ जयपुर की वेधशाला के जीर्णोद्धार का काम करने का उन्हें जो अवसर मिला, उसने आगे चलकर पुरातत्त्व, भारतविद्या और इतिहास आदि के अनुसंधान को उनका प्रमुख क्षेत्र बना दिया। 1897 में जयपुर में जैनवैद्य द्वारा नागरी भवन की स्थापना के बाद काशी नागरी प्रचारिणी सभा के खोज प्रयासों के अंग के रूप में उन्हें प्राचीन पांडुलिपियों की खोज और उनके पुनरुद्धार का काम करने का अवसर मिला और पं. गौरी-शंकर हीराचद ओझा के सान्निध्य ने उनमें इतिहास और पुरातत्त्व की भूख जगायी। इसके साथ ही नागरी भवन जयपुर से शुरू किये गये 'समालोचक' मासिक पत्र ने उन्हें साहित्य, राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास, भाषाविज्ञान आदि समस्त विषयों पर अपनी लेखनी आजमाने का सुअवसर जुटाया और वे उस समय की अधिकांश हिंदी पत्र-पत्रिकाओं से जुड़कर हिंदी-जगत् के बौद्धिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गये। 'समालोचक' के माध्यम से तथा अन्य प्रकार से उनका सम्पर्क जिन पत्रिकाओं से स्थापित हुआ उनमें 'सरस्वती' 'सुदर्शन', 'वैश्योपकारक', 'अभ्युदय', 'कलकत्ता समाचार', 'परोपकारी', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'ब्राह्मण सर्वस्व', 'इंदु', 'मर्यादा', 'प्रतिभा', 'विद्यार्थी','स्त्रीदर्पण', 'हिंदीबंगवासी', 'रूपम', 'इण्डियन एंटीक्वेरी', 'मोहिनी', 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार', 'श्रीराघवेंद्र', 'राजपूत', 'राजस्थान समाचार', 'संस्कृत रत्नाकर', 'आनंद कादंबिनी', 'हिंदुस्तान', 'भारत मित्र', तथा 'पाटलिपुत्र', विशेष उल्लेखनीय हैं।

समकालीन विद्वानों के साथ गुलेरी जी के कैसे संबंध थे, इसकी जानकारी उनके छिट-पुट पत्रों में तथा उनके विषय में लिखे गये कुछ संस्मरणों में मिलती है। सुप्रसिद्ध समीक्षक पं. पद्मसिंह शर्मा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बिहारी सतसई' के संबंध में परामर्श एवं सहायता के लिए गुलेरी जी के सम्पर्क में बने रहे। वे गुलेरी जी की सृजन-शक्ति के क़ायल थे और यह कहा करते थे कि ऐसे प्राणवान व्यक्ति का नौकरी की विवशताओं के कारण हिंदी को अधिक समय न दे पाना हिंदी का दुर्भाग्य है। 17 जून, 1920 को एक पत्र में गुलेरी जी को लिखते हैं—

> "मुझे बार-बार ख़याल आता है कि कोई शक्ति ऐसी नहीं है, जो आपको बलात् पकड़कर इधर लगाये और जो कुछ आपके अंदर भरा है, उसे उगलवा दे। मेरा खयाल है, दृढ़ धारणा है कि आप जैसा विद्वान और सहृदय लेखक हिंदी में या हिंदी भाषाभाषियों में दूसरा नहीं है। आप आधा समय भी हिंदी-साहित्य के लिए दे सकते तो हिंदी का दारिद्र्य दूर हो जाता। परंतु देश का दुर्दृष्ट कुछ नहीं करने देता। किंतु दुःखमतः परम। नहीं

मालूम आपको यह विचार क्यों विगलित नहीं करता, क्यों आपका हृदय नहीं पसीजता।"

हालैण्ड के विद्वान डॉ. डब्ल्यू. कैलांड से उनकी दिल्ली दरबार के समय मुलाक़ात हुई थी। उसके बाद वे अपने शोध-कार्य के संबंध में गुलेरी जी से परामर्श लेते रहे। 1909 में अपने एक पत्र में वे लिखते हैं—

"अपने 26-5-1909 के पत्र के लिए हार्दिक धन्यवाद स्वीकार करें। आपने विशाल हृदयता से मेरे और वैज्ञानिक शोध के हित में जो 'शतपथ' कि पांडुलिपि खोज निकाली, वह प्रशंसा का विषय है। आपके यह लिखने से कि बनारस में 'कण्वसंहिता पाठ' और 'ब्राह्मण' की कुछ प्रतियाँ हैं, मेरी जिज्ञासा तीव्र हो गयी है। अगर इस विषय में आपको कुछ पता चला हो, तो लिखने की कृपा करें। क्या आप बताने की कृपा करेंगे कि सम्पूर्ण साहित्य संबंधी सूचना मैसूर पुस्तकालय में किस सूची पत्र से प्राप्त हुई?···कण्व-संहिता के बारे में और जानकारी भेजने के लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँगा।"

आयरलैण्ड के विद्वान जी. ग्राहम दो प्रकार के स्वास्तिक चिह्नों को स्पष्ट करने के लिए गुलेरी जी को पत्र लिखते है। वे कहते हैं—

"ब्राह्मण के लिए इन दो प्रकार के चिह्नों में किया अतर हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि इधर पश्चिम में हममें से कुछ लोग इस विषय के जिज्ञासु हैं। आपके यहाँ तो हर यज्ञोपवीतधारी को इसका उपदेश दिया जाता होगा। अगर आप उक्त प्रश्नों पर प्रकाश डालें तो मैं आपका बहुत आभारी हूँगा।"

कील के विद्वान एच. लिडर्स गुलेरी जी के एक पत्र के उत्तर में लिखते हैं—

"आपके पत्र के उत्तर में निवेदन है कि मुझे आपके मित्र का पत्र नहीं मिला। पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा को मैं एक सुविख्यात विद्वान और प्राच्य अनुसंधान के प्रवर्त्तक के रूप में भलीभाँति जानता हूँ। मैं उनके पत्र का अवश्य ही उत्तर देता यदि वह मुझे मिला होता। पत्र इधर-उधर हो जाने का कारण संभवत: यह है कि पत्र के यहाँ पहुँचने के समय मैं यात्रा पर रहा, या कील शब्द की स्पेलिंग में ग़लती हो गई होगी।"

"आपके दूसरे प्रश्न के उत्तर में मुझे यह बताते हुए खेद है कि प्रो० कीलहार्न 'महाभाष्य' की भूमिका को पूरा नही कर पाए। लिपिसंबंधी अनुसंधानों में वे इतना व्यस्त रहे कि वे उस पुस्तक को नहीं लिख पाए जिसे हम उनकी क़लम से लिखा देखना चाहते थे। उनका पुस्तकालय लीपजिक के पुरानी पुस्तकों के विक्रेता, हरासुइता ने खरीद लिया है और पांडुलिपियाँ गिटिंजन की युनिवर्सिटी लायब्रेरी को दी गई थीं।"

भारतीय भाषा-सर्वेक्षण के सुप्रसिद्ध विद्वान सर जॉन अब्राहम ग्रियर्सन गुलेरी जी का कार्यकाल शुरू होने तक सेवानिवृत्त होकर लंदन स्थित अपने घर में रहने

लगे थे किंतु गुलेरीजी के लेखों को वे ध्यान से पढ़ते थे। गुलेरीजी की मृत्यु के बाद नागरी प्रचारिणी सभा को भेजे गए पत्र में वे लिखते हैं—

"यद्यपि पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी से भेंट करने का मुझे सौभाग्य नहीं मिला, तथापि मैं हिंदी-भाषा और साहित्य संबंधी उनकी श्रेष्ठ रचनाओं का अनन्य अनुरागी रहा हूँ। व्यक्तिगत रूप से मैंने उनसे बहुत ग्रहण किया है और जब कभी मुझे अवसर मिला, मैंने इंगलैण्ड में भी उसकी विशेषता पर अपने मित्रों का ध्यान आकर्षित किया है। उनके देहांत से भारत, विशेषकर नागरी प्रचारिणी सभा का एक बहुश्रुत एवं परिपक्व विद्वान खो गया है, जिसकी स्थान पूर्ति प्राय: दुर्लभ है।"

सुप्रसिद्ध इतिहास-पुरातत्त्वविद डॉ० डी० आर० भंडारकर से भी गुलेरी का सम्पर्क बना हुआ था। 25 मई, 1910 को पूना से लिखे गए एक पत्र में डॉ. भंडारकर 'मनुस्मृति' में उल्लिखित 'मैत्रकों' पर गुलेरी जी से असहमति प्रकट करते हैं किंतु उनके अन्य संशोधनों को यह कहकर स्वीकार करते हैं कि "इन संशोधनों का प्रतिवाद नही किया जा सकता और मैं इसके लिए आपका आभारी हूँ।"

अपने समकालीन हिन्दी लेखकों के साथ उनके संबंध साहित्यिक मतभेदों और नोक-झोंक के बावजूद मधुर रहे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भाषा के कठोर अनुशासक के रूप में प्रसिद्ध थे। वे अपने समवयस्क लेखकों की रचनाओं की भी 'सरस्वती' में प्रकाशन के समय निर्दयतापूर्वक काट-छाँट करते थे। इस प्रवृत्ति के विरोध में कई लेखकों ने सरस्वती का बहिष्कार तक किया था। किंतु गुलेरी जी की रचनाओं में वे बहुत सोच-समझकर तथा उनसे पूछकर परिवर्तन करते थे। **'उसने कहा था'** कहानी के कुछ प्रसंगों को, जिनमें उस समय की मर्यादा से कुछ बढ़कर शृंगार की अभिव्यक्ति हुई थी, उन्हें काटना पड़ा, तो गुलेरी जी ने किसी तरह उसे मान लिया किंतु जैसा कि कहा जा चुका है **'आँख'** निबंध में उन्होंने किसी भी प्रकार की काट-छाँट न करने के निर्देश द्विवेदी जी को दिए और उसे ज्यों का त्यों छापने के लिए द्विवेदी जी बाध्य हुए। भाषा के संबंध में द्विवेदी जी की तुलना में गुलेरी जी का ज्ञान निश्चय ही अधिक व्यापक था और वे अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच विदेशी भाषाओं के अलावा वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के ज्ञाता थे। द्विवेदी जी द्वारा भाषा संबंधी आलोचनाओं की गुलेरी जी प्रशंसा करते थे लेकिन उनकी त्रुटियों को दिखाने का साहस भी गुलेरी जी में ही था। **'भारत मित्र'** में द्विवेदी जी के सबंध में छपे एक लेख पर टिप्पणी करते हुए **'समालोचक'** (1905) में गुलेरी जी लिखते हैं—

"जिस प्रचंड पांडित्य से संपादक महाशय ने भाषा के नये-पुराने सभी लेखकों को अपने व्याकरण के आगे अनर्गल और अशुद्ध समझा, उस पर

'भारतमित्र' चाहे कुछ कहे, हम उस प्रौढ़ लेख की स्तुति ही करेंगे। परंतु वे स्तुति तो बाद में करेंगे, पहले द्विवेदी जी उनके प्रश्न की गाँठ तो सुलझाएँ।···क्या संपादक महाशय यह बतलायेंगे कि 'अथशब्दानुशासनम्' पाणिनि का सूत्र है, यह उन्हें किसने बताया ?"

आगे वे द्विवेदी जी से पूछते हैं—

"एक बात और हम नही समझे। हिन्दी के पुराने लेखको पर कृपा इस वास्ते हुई कि उनसे दुर्भाग्य से भली या बुरी वह हिन्दी लिखी गई थी जिसे आज द्विवेदी जी रौनक बख्शते हैं···परन्तु अंग्रेजी, मराठी, बंगला के वे टुकड़े क्यों दिए गए हैं, जो निर्दोष कहे गए है ? क्या उनके देने मे अपनी बहुभाषाविज्ञता दिखाने की छाया नहीं है ?"

भाषा पर व्याकरण के अनुशासन के संबंध में गुलेरी जी की निजी मान्यताएँ थीं।' 'पुरानी हिन्दी' लेखमाला में उनकी वे मान्यताएँ काफ़ी स्पष्ट हुई हैं। वे कठोर अनुशासन में बँधी भाषा की अपेक्षा लचीली तथा जन-प्रवाह के साथ-साथ बढ़ती हुई भाषा के समर्थक थे। द्विवेदी जी से इस बात को लेकर उनकी नोक-झोंक चलती रही होगी किंतु इससे दोनों के बीच सौहार्दपूर्ण संबधों में कोई अंतर नहीं आया। द्विवेदी जी के एक पत्र के उत्तर में वे लिखते हैं—

"कृपापत्र मिला। ओझा जी महाराज से कह दूंगा कि आपकी आज्ञा है, जैसी संभव होगी, कन्हैयालाल जी की सेवा की जाएगी। आप पर अहसान नहीं, हम दोनों का सौभाग्य है कि आपके आदेश का पालन कर सकें। *यदि अहसान भी हो तो भी अच्छा है, आप पर इस प्रकार अहसान* करने का सुअवसर क्या रोज-रोज मिलता है ?"

आगे वे उनसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष बनने के लिए अनुरोध करते हुए कहते हैं—

"कलकत्ता के साहित्य सम्मेलन का समय निकट आ रहा है। आपका स्वास्थ्य ठीक हो, मनःप्रसाद हो, तो निवेदन है कि प्रार्थना स्वीकार करके सभापति का आसन ग्रहण कर लें। इसमें साहित्यसेवी सभापतिवादी और प्रचारोपयोगी सभापतिवादियों का झगड़ा समाप्त हो जाएगा और सम्मेलन का महत्त्व फिर प्रतिष्ठित होगा। मुझे आपका सभापति होना बहुत इष्ट है, बहुत ही प्रिय है। हिन्दी के सेवकों पर कृतघ्नता का दोष लग रहा है, उससे उन्हें छुटकारा दिला दें। यह हृदय का भाव है, कोई दिखाऊ या नैतिक प्रस्ताव नहीं। आपकी कृपा से मैं सपरिवार प्रसन्न हूँ।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल से एक बार काशी नागरी प्रचारिणी सभा के श्री त्रिलोचन शास्त्री ने पूछा था, "*आप अपने युग का सबसे बड़ा विद्वान किसे मानते हैं ?*" इस पर शुक्ल जी ने कहा था, "मैं आज तक जितने भी विद्वानों से मिला हूँ,

उनमें स्व० चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी एक ऐसे महापंडित थे, जिनसे मैं बहुत कुछ सीख सकता हूँ।" गुलेरी जी को शुक्ल जी बड़ी विनम्रता से पत्र लिखते थे। 'सरोज' पत्रिका निकालने की योजना बनी तो शुक्ल जी ने 1911 में गुलेरी जी को पत्र लिखा—

"आज मुझे बहुत दिनों पर आपको पत्र लिखने का साहस हुआ है। क्षमा कीजिए, आप मुझे भूले तो न होंगे। यदि भूल गए हों, तो नागरी प्रचारिणी सभा के गृह-प्रवेशोत्सव तथा काशी कांग्रेस का स्मरण कर लीजिए। शायद याद पड़ जाए। यदि न भी याद पड़े तो हिन्दी का नाता तो कहीं नहीं गया। उस नाते से तो आपसे हम सब कुछ कह सकते हैं। अस्तु, सुनिए।

"हमने 'सरोज' नामक एक हिन्दी मासिक पत्र निकालना निश्चित किया है। कहने की आवश्यकता नही कि इस उद्देश्य की पूर्ति की आशा हम लोगों ने आप जैसे विज्ञ और प्रतिभासम्पन्न लेखकों की सहायता के भरोसे पर की है। इस पत्र को अपनाइए और हिन्दी संसार के बीच उसे खड़ा कर दीजिए।···लेख यदि पंद्रह दिन के भीतर आ गया तो बड़ी कृपा होगी।"

पत्र के संदर्भ में गुलेरी जी ने लिखा—

"मैं सोचता ही था कि क्या भेजूं क्योंकि आजकल फाउंड्री में एक तैयार है सही, परंतु वह श्रीमती नेहरू के लिए है। फिर आपके लिए कोई चीज ऐसी-वैसी तो नहीं भेजनी चाहिए, बढ़िया चीज चाहिए। नहीं तो सर एडविन के हिंदी अवतार को पसंद कैसे आवे ?"

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के साथ गुलेरी जी का सम्पर्क रायकृष्ण दास के माध्यम से अधिकतर रहता था क्योंकि गुप्त जी अक्सर रायकृष्णदास के मसूरी स्थित घर पर साहित्य-साधना के निमित्त टिकते थे। एक पत्र में वे (1915) रायकृष्णदास को लिखते हैं—

"राष्ट्रकवि जी को आशीर्वाद। उनके दर्शन तो अभी हुए ही नहीं, पर साहित्य दर्शन होते ही रहते हैं। अभी 'भारत-भारती' की समालोचना भी नही लिख सका।"

सर्वश्री किशोरीलाल गोस्वामी, गोविंद नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि गुलेरी जी के निकट मित्रों में थे। सर्वश्री राधाकृष्णदास, कामताप्रसाद गुरु और केदारनाथ पाठक (साहित्य मुटिया) के प्रति गुलेरी जी का मोह भी था और पारिवारिक संबंध भी। पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा के साथ इतिहास और पुरातत्त्व विषयों पर सुँघनी की डिबिया सामने रखकर घंटों परामर्श करते थे। पत्रों के माध्यम से उनका सबसे अधिक सम्पर्क बना हुआ था, रायकृष्णदास, हरिनारायण पुरोहित, श्यामसुंदरदास, पंडित झाबरमल्ल शर्मा, पद्मसिंह शर्मा आदि से। देवकीनंदन खत्री के प्रेस (लहरी प्रेस) से प्रकाशित 'सुदर्शन' के संपादक

माधव मिश्र और राधाकृष्ण मिश्र से किशोरीलाल गोस्वामी और देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को लेकर खूब नोक-झोंक चलती थी लेकिन दोनों संपादक बंधुओं के साथ गुलेरी जी के घरेलू संबंध बने रहे।

रायकृष्णदास 'शतग्रंथी माला' निकालने की योजना बना रहे थे। गुलेरीजी को इसकी सूचना मिली तो वे उन्हें 20 नवंबर, 1914 को लिखते हैं—

> "आपका एक पत्र 'शतग्रंथी माला' के विषय में नैनीताल से मिला था। मैं अवाक् रह गया कि हर महीने आप एक ग्रंथ कैसे लिखवाकर छाप डालेंगे। धीरे-धीरे काम करना अच्छा होता है। जर्मनी की तरह लंबी जकंद भरना ठीक नहीं। आप वर्ष में दो ही ग्रंथ निकालिए, पर काम कीजिए। खपुष्पों का बाग़ मत लगाइए।"

अस्वस्थ पत्नी को वैद्यों ने परवल की तरकारी खाने की सलाह दी थी, लेकिन जयपुर में अच्छा परवल मिलता नहीं था। रायकृष्णदास उन्हें बनारस से परवल भिजवाते रहे। फिर जब गुलेरी जी का बनारस में ही रहने का कार्यक्रम बना तो 18 जुलाई, 1921 को उन्हें पत्र लिखा—

> "अब परवल न भेजिए। अब तो वहीं खिलाइए, अब तो हम वहीं आपके 'परवल' हुए, आप 'स्वबल' रहे। मैं आपने सुना ही होगा, काशी आता हूँ। तारीख 27 को यहाँ से यात्रा का मुहूर्त है, अब सारा भार आप पर है, नये विदेशी की सब समस्याएँ हल करना—घर, नौकर,पलंग फ़र्नीचर, कभी पहिए के पैर, सलाह आदि सब देना होगा। एक दिन तो गुरु-गृह जाऊँगा, पीछे। बाबू साहब कहते हैं हमने लाहौरी टोले में बड़ा मकान लिया है, उसी में रहो। मैं विश्वविद्यालय के पास रहना चाहता हूँ। आपके यहाँ देसाईवाला बँगला खाली हो तो सर्वोत्तम था—आपका साथ और स्वास्थ्य। किंतु बहुत दूर है, कामाख्या में कोई बंगला या घर दिला दीजिए या पुराने हिंदू विश्वविद्यालय के पास कोई घर मिल सके, खुला तथा अच्छा, खोज करवा रखिए। संभव है, आप ही का कोई हो या किसी परिचित मित्र का हो। साम से मिले तो साम (याने यों ही) दाम से मिले तो वैसे। सुना है, वहाँ विजयनगरम्वालों की छोटी कोठी है। बाग है, कुआँ है। विजयनगरम् के राजकुमार को लिखा है। आप भी टोह लगाइए। वहाँ उनका एजेंट होगा। इस विषय में आपकी सलाह सहायता सब कुछ चाहिए।"...

पं० रामचंद्र शुक्ल ने नागरी प्रचारिणी सभा के लिए 'लाइट आफ एशिया' का अनुवाद 'बुद्धचरित' के रूप में किया था। उनका पारिश्रमिक तय करने के संबंध में गुलेरी जी ने बाबू श्यामसुंदरदास को लिखा—

> "मैंने इस विषय का विचार किया किंतु निश्चय स्थिर करने में कुछ कठिनता पायी क्योंकि कविता है, कोरा अनुवाद नहीं है और लगभग मौलिक

ग्रंथ है। मूल के पृष्ठ 238 का हिंदी अनुवाद 230 पृष्ठों में हुआ है। भूमिका के लगभग 59 पेज हैं। मोटे भाव से 280 हुए। 'हुएनसाँग' के अनुवाद का आपने 15 फार्म तथा 'सुलेमान' का एक रुपया प्रतिपृष्ठ दिया था।······ साधारण प्रकाशक के लिए तो अनुवाद और मौलिक ग्रंथ एक ही है किंतु सभा के से विवेकशाली लोगों को सब ध्यान बाईस पंसेरी नहीं तोलने चाहिए। मेरी सम्मति में 500 रुपये कुल पुरस्कार देना ठीक होगा। भूमिका तो मौलिक है, उसे पृथक् करने की आवश्यकता नहीं, यह सब 2 रुपये पेज से कम पड़ा।"

उधर नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाश्य 'बालाबख्श राजपूत चारण ग्रंथमाला' के लिए आर्थिक सहायता के निमित्त हरिनारायण पुरोहित बी० ए० विद्याभूषण को गुलेरी जी 25 नंवबर, 1920 को लिखते हैं—

"चारण महाशय के बारे में हम पहले ही फरमा चुके हैं। रुपये दस हजार दिलवाइए। पत्रिका के बारे में आप केवल कहकर टालना चाहते है। ऐसी लफ्फाजी की दमपट्टी में मैं नहीं आनेवाला हूँ। ये वो नशे नहीं, जिन्हें तुर्शी उतार दे।···भला कोई बात है, शिकार के वक्त दुम दबाते हो, सैल्फ गवर्नमेंट के वक्त नॉन-कोपरेशन करते हो। अब खीसा फटने के दिन गए। फिर कहता हूँ कि मान जाओ, रास्ते पर आओ। सीधी-सीधी बातें करो। हमें फंसाकर तमाशा मत देखो, नही तो गुस्ताख़ी माफ़, हम गोद में बैठकर दाढ़ी खेंचनेवाले हैं···"

'कलकत्ता समाचार' के संपादक पं० झाबरमल्ल शर्मा के साथ तो उनके दोहरे संबंध थे। एक तो साहित्यकार के नाते और दूसरे खेतड़ी के राजघराने से दोनों के संबध होने के कारण। उन्हें लिखे गए पत्रों में गुलेरी जी के व्यक्तित्व की अंतरंग झलक मिलती है। कभी लिखते हैं—

"अनभ्रवृष्टि के लिए मिश्र जी (राधाकृष्ण मिश्र) को धन्यवाद दीजिए, जरा कह दीजिए कि मूल न सही, ब्याज तो निर्ब्याज होकर चुका दें, जो है सो कहा भी है 'न ब्याजेन चरेद् धर्म।'···

आप तस्करोद्यान (कलकत्ता स्थित चोरबागान जहाँ 'भारत मित्र' का कार्यालय था) से भी चीजें उड़ा लेते हैं—चोरों के भाई गठकटे। सोमदेव ने वहाँ तक बात पहुंचाई होगी। साहस-वाहस की बात तक़ल्लुफाना है और हम ऐसी गुफ़्तगू का जवाब अपनी जहालत के बाइस देने में बेकार हैं। आप शेखावटी के भले ही हों, अब तो बड़े बाज़ारों में चीनियों की पट्टियों पर लेटना सीख गए हैं, अब तो शेखों की-सी बात छोड़कर, चीनियों की-सी सीधी चपटी रुख कीजिए। मिश्र जी की जीवनी का क्या किया? 'वाचस्पत्य' की तलाश कीजिए, धन्यवाद! गर्मियों में हम जयपुर तीनों तापों से तप रहे है,

ठंडी हवा कहाँ ? "···मैं न किसी मसरफ का था, न हूँ—यही इच्छा रहती है कि मिलें और गपशप उड़े—यहाँ तो कोई सहृदय नहीं । ढकोसला है मिश्र जी और आप दोनों···"

पं. झाबरमल्ल ने गुलेरी जी को 'मालविकाग्निमित्र' पर कुछ लिखने के लिए कहा तो गुलेरी जी 1918 में एक पत्र में उन्हें लिखते हैं—

'मालविकाग्निमित्र' की शर्त से डरता हूँ, यूँ संगीन छाती पर चढ़ा कर काम नहीं होता । अभी लक्ष्मीनारायण जी के पिता (पं. गोपीनाथ खंडेलवाल, जो खेतड़ी नरेश के शिक्षा-गुरु थे) की जीवनी ही पड़ी है। आप दिखा दीजिए, फिर लिख सका तो लिख दूंगा । नहीं तो लौटा दूंगा । अपनी ललिता मालविका का मुख तो दिखा दीजिए, फिर हाजिर हूँ"···

अगले पत्र में गुलेरी जी मालविका के दर्शन कराने का पुनः अनुरोध करते हैं और सूर्यवंश पर निबंध लिखने के अनुरोध के संबंध में उन्हें लिखते हैं—

"सूर्यवश पर निबंध लिखना खतरनाक काम है । आज तक कई वंशों ने सूर्य के बीज से होने का दावा किया है । पृथ्वीराज चौहान तक भी सूर्यवंशी थे, उदयपुर के सीसोदिये सूर्यवंशी बनते थे । पर नागर ब्राह्मण हैं । कछवाहों का पुराना इतिहास कुछ नहीं है । सूर्य और कुश यह तो ब्राह्मण बाजीगरों की गोलियाँ है । कहीं कछवाहों का एक शिलालेखवाला अर्थ "ख्यातो स्वयं जगति कच्छपघातवंशः" लिख दिया तो क्या करोगे ? खैर, ओझाजी अभी दौरे पर हैं । मास भर में आवेंगे तो विचार कर आपको लिखूंगा ।"

अगस्त 1918 में गुलेरी जी पं० झाबरमल्ल को लिखते हैं—

"···काम लिखता हूँ पर कीजिएगा तो—रुढ़मल जी के यहाँ से श्री शंकराचार्य जी के ग्रंथों का 'मेमोरियल एडीसन' लेकर अपने पास रख लीजिए । नहीं तो धाँधल में हाथ से जाएगा । आ जाए तो बात । भले ही लेकर रेलवे पार्सल से भेज दीजिए, यह मेरे 'भागवत' के बदले है ।···"

नागरी प्रचारिणी सभा के चुनावों में साहित्य-महारथियों में बड़ा उत्साह रहता था और उसके लिए जी तोड़ कोशिशें भी होती थीं । मई, 1920 को एक लंबे पत्र में गुलेरी जी झाबरमल्ल जी को लिखते हैं—

"नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका त्रैमासिक हो गई और केवल खोज की हो गई ।संपादक हुए हैं ओझाजी, मुंशी देवीप्रसाद जी, मैं और विमल बाबू श्यामसुंदर दास । श्यामसुंदर बड़े अच्छे आदमी हैं । अकर्मण्यों में एक ही कर्मण्य हैं । आप लोग उनसे दूर रहे है, अधिक परिचित नहीं हैं । मैं जितना परिचय पाता हूँ, उतना ही उन्हें अधिक अच्छा समझता हूँ । सभा को हाथ में लेने का काम हो गया है । देवीप्रसाद ग्रंथमाला का विषय तो जानते ही हैं । उनमें फाहियान छप गया है । सुङ्युन छप रहा है ।

हुएन्सांग का अनुवाद हो रहा है। ओझाजी, मुंशी जी तथा मुझे बोर्ड ऑफ़ स्टडीज में ले लिया गया है। बाबू साहब सदा अपने अनुकूल रहेंगे। सभा पर कब्जा कर लिया है, अब आप भी हमारे साथ हो जाइए···"

"अब सुनिए ! सभा को डेढ़ लाख रुपये की जरूरत है। बड़ा भवन बनाना है। प्रेस खोलना है। सदा के लिए पक्का काम करना है कि चंदे की आकाश वृत्ति पर न रहे। बाबू साहिब, मई में सभा का एक डेप्युटेशन कलकत्ते ले जा रहे हैं। ओझा जी, देवीप्रसाद जी तथा मुझे साथ ले चलते थे। मैंने देश जाने की बात कहकर टाला तो बोले कि आप न जाओगे तो मैं भी न जाऊँगा। अभी न चलेंगे तो बस दो वर्ष की गई क्योंकि हिंदी मंदिर वाले पहुँच जाएँगे, सम्मेलन होगा आदि। ओझा जी ने मुझे दबाया कि अवश्य जाओ और चदा करा दो। मैं टालता रहा। इतने में ठाकुर साहिब बिसाऊ अजमेर आए। बोले कि मैं जून में प्रथम सप्ताह में कलकत्ता जा रहा हूँ। महीना भर रहूँगा। महाराजकुमार शाहपुरा भी यहीं थे। सभा के तो मुरीद अब महाराजकुमार और हम दोनों ठहरे। बिसाऊ ने मुझे आग्रह किया कि कलकत्ते मेरे साथ चलो। मैंने कहा कि सभा का काम सेठों से करवा दो। शाहपुरा ने जेक लगाया। राजी हुए। अब ओझा जी तो गृह-कार्य से छुट्टी गए हैं। श्यामसुंदरदास तारीख 6 जून को कलकत्ते जा रहे हैं। मुंशी देवी प्रसाद भी पहुँचेंगे। मैं बिसाऊ के साथ तारीख 7 को जाने वाला हूँ। उसने कहा है कि दिल्ली में मुझसे मिलके साथ चलें। अब भैया, तुम इस बात को सुधार दो, जो जुग-जुग गुण गावें (यह तकल्लुफ़ नहीं, हृदय का सत्य उद्गार है।) जसरापुर के काम से निपट ही गए हो। बिसाऊ तो केवल अनुषंग है। सभा को अपना लो, मुझे तो अपना ही लिया है। मैं चाहता हूँ कि आप यों करें। पत्र पाते ही अजमेर चले आवें। यहाँ से अपने साथ कलकत्ते चलें। योगेश्वर को भी ले जाने का विचार है। यदि आप साथ हों, तो अपने साथ का इंटर बिसाऊ के फ़र्स्ट क्लास से अच्छा ही समझता हूँ। यहाँ से हम आप योगा तीनों चलें, दिल्ली में बिसाऊ से मिलकर साथ-साथ कलकत्ते पहुँचें। मिश्र जी को भी कलकत्ते बुलाइये। वहाँ पन्द्रह-बीस दिन गम्मत रहेगी। सभा का काम हो जायेगा। डेढ़ दो लाख रुपया आपकी जुबान में है। बिसाऊ भी उद्योग करेगा। बाबू साहिब भी होंगे। बाबू साहब तथा सभा को हस्तगत करने का अच्छा अवसर है···"

निस्संदेह बीस साल के अपने अल्प कार्यकाल में गुलेरी जी हिंदी साहित्य की गतिविधियों का केंद्र-बिंदु बन गये थे।

साहित्य-सृजन

गुलेरी जी के साहित्य सृजन पर विचार करते समय यदि हम पिछले पृष्ठों में दी गयी उनकी परिस्थितियों को ध्यान में रखे, तो हमें यह समझने में कठिनाई नही होगी कि क्यो उनकी लेखनी में आज भी ताजगी दिखायी देती है। "उसने कहा था" कहानी का पिछली पौन शताब्दी के अर्से में निरंतर ताजा बने रहना, महज संयोग की बात नहीं हो सकती। उनकी अनेक अन्य रचनाओ के बारे में भी यह कहा जा सकता है। "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः" माघ की इस कसौटी पर गुलेरी जी की अधिकांश रचनाएँ खरी उतरती हैं। साहित्य अथवा कला के सृजन की इससे अच्छी परिभाषा नही हो सकती कि वह क्षण-क्षण नये सौंदर्य को प्रकट करे। रीतिकाल के एक आचार्य मतिराम ने भी "ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई" कहकर इस सत्य की तरफ़ इशारा किया है। प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा तत्त्व है जो किसी रचना को नित नया सौंदर्य प्रदान करता है? यह तत्त्व है मौलिकता, जो सृजन का पर्याय कहा जाना चाहिए, हालाँकि कुछ लोग मौलिक सृजन जैसे शब्दों का प्रयोग कर उसमें विशेष्य-विशेषण संबंध स्थापित करते हैं। कला में मौलिकता का अर्थ है परिस्थितियों के दबाव से स्वतंत्र रहकर रचना करना। यदि कलाकार परिस्थितियों का दास बन जाता है, यदि वह वही करता है, जो परिस्थितियाँ उससे कराती हैं, तो वह मौलिक नहीं हो सकता। परिस्थितियाँ मन की द्रवण-शीलता को ठोसपन में बदलने के लिए निरंतर काम करती हैं और मन परि-स्थितियों के इस प्रयास को निरंतर अपनी इच्छा-शक्ति से प्रताड़ित करने की कोशिश करता है। उनके दबाव से अपने को मुक्त रखकर, उनपर हावी होकर, जब मन रचना करता है तो वह उसका मौलिक कार्य बनता है। यही सृजन है, जो मन की सर्वोत्तम क्रिया है। यह क्रिया साहित्य और कला तक सीमित नही है मानसिक कार्यकलाप के सभी क्षेत्रों में सृजन एवं मौलिकता की गुंजाइश है।

डॉ. नगेन्द्र ने उनकी कहानियों पर टिप्पणी करते हुए एक लेख में कहा है कि गुलेरी जी ने अपने प्रकांड पांडित्य के बावजूद प्राणवत्ता को बचाये रखा।

कुछ इसी तरह की बात जैनेन्द्र जी ने भी अभी हाल में 'गुलेरी साहित्यालोक' के विमोचन-समारोह के अवसर पर कही थी कि उनका पांडित्य अगाध था और गजब की जिंदादिली थी। पांडित्य और सृजन का एक साथ प्रकट होना एक असाधारण घटना ही है।

गुलेरी जी ने कहानी, कविता, निबंध, भाषाविज्ञान, पुरातत्त्व आदि क्षेत्रों में जो कुछ भी लिखा, उसमें मौलिकता की छाप विद्यमान होती थी, इसलिए उनकी छोटी-छोटी टिप्पणियों को भी लोग ध्यान से पढ़ते थे। 'सुदर्शन' 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं की तुलना में 'समालोचक' डिमाई अठपेजी आकार के चौबीस पृष्ठों की बहुत छोटी पत्रिका थी, जो बहुत सीमित साधनों से छपती थी। किंतु इस लघु पत्रिका का इतना सम्मान था कि कोई भी लेखक या विद्वान उसमें छपी टिप्पणियों की उपेक्षा नहीं कर सकता था। यदि 'सरस्वती' ने व्याकरणीय अनुशासन से एक परिनिष्ठित भाषा का विकास किया, तो 'समालोचक' ने भी अच्छे बुरे साहित्य की पहचान करने के लिए स्वस्थ समीक्षा के मानदंड निर्धारित किये। 'समालोचक' में छपी तत्कालीन साहित्य पर टिप्पणियाँ यह दिखाती हैं कि उस समय जासूसी, तिलस्मी और ऐय्यारी के उपन्यास छाये हुए थे। और उन उपन्यासों को साहित्य कृतियों के रूप में प्रतिष्ठित करवाने के लिए 'सुदर्शन' जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से खूब प्रचार चल रहा था। कथा-साहित्य की एक दूसरी धारा किशोरीलाल गोस्वामी के फार्मूलाबद्ध उपन्यासों की थी, जिन्हें सामाजिक उपन्यासों के रूप में मान्यता मिल रही है। गुलेरी जी ने कथा-साहित्य की इन दोनों धाराओं पर 'समालोचक' के माध्यम से आक्रमण किया। आक्रमण के जवाब में प्रत्याक्रमण भी हुए और विवाद लंबे समय तक चलता रहा किंतु अंत में गुलेरी जी के विचारों की विजय हुई तथा जासूसी, तिलस्मी, ऐय्यारी और फार्मूलाबद्ध तथाकथित सामाजिक उपन्यासों को साहित्य की सीमा से बाहर रखने पर आम सहमति हो गयी। और इस तरह यथार्थवादी कथा-साहित्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। ध्यान देने की बात है कि यह विवाद 'समालोचक' के माध्यम से 1903 से शुरू हुआ और प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों का उदय उसके बाद ही हुआ। गुलेरी जी की अवस्था उस समय बीस-बाईस वर्ष की थी। उस समय साहित्य पर लिखी गयी उनकी टिप्पणियाँ आज भी हमें चमत्कृत करती हैं। 'सुदर्शन' में छपे एक लेख के जवाब में गुलेरी जी लिखते है—

> 'सुदर्शन' में इस ही वैशाख की संख्या में 'उपन्यास और समालोचक' नामक लेख यद्यपि लेखक की 'नमकहलाली' दिखाता है तथापि संदेह होता है कि किसी ने सरल हृदय पं. माधवप्रसाद को अपना शिखंडी बनाया है। कोई भाषा उपन्यासों के भरोसे नहीं जी सकी। चिंतित चित्त को शांति देने के लिए इनका इतना ही उपयोग है जितना भोजन में चटनी का, किंतु क्या हम

चटनी से पेट भर सकते है ? अधिक मिर्चोवाली चटनी, चटनी का काम दे भी देगी किंतु भोजन का काम ! 'चंद्रकांता' में एक असंभव बात को संभव मानकर क्या-क्या बिलल्ली बाते बन सकती है, उनका अच्छा नमूना है, किंतु उसकी कैसी-कैसी भद्दी नक़लें हो रही है। 'चद्रकांतासंतति' मे तो बाबू देवकीनंदन ने स्वयं तिलस्म लिखने की अरुचि प्रकट की है। ऐसे उपन्यासो के नायक और नायिका खाली बादमाशों के हाथ की गुड़ियाँ है, न उनमें जान है न शक्ति। सभ्य समाज निराकृत रेनेल्ड के नाविलो की दुहाई देती बेर लेखक ने यह नहीं सोचा कि असंभव घटना प्रभावशालिनी लेखनी ने चित्रांकन करने की बहादुरी की है, उसकी तुलना मे हमारे लेखकम्मन्य कीड़े नहीं तो क्या है ? हाँ ! जिन रेनेल्ड के नाविलों के लिए हम उर्दू को दुत्कारते थे, उन्हीके भरोसे से हिंदी नाविलों की हिमायत की जाती है। विलायत के सैकड़ो संभव, समाजोपकारक और सत्य उपन्यास है, उनकी ओर तो देखा भी नहीं जाता और पुराने भद्दे रोमांसेज की नकल की जाती है। यह योरोप की बीमारी के दिनों के ग्रथ है और हमे भी बीमार करने में कसर न करेंगे। तिलस्म उतना ही संभव है जितना 'हुमा' या 'सात मुख का घोड़ा', उसपर एक-आध अच्छा उपन्यास बन सकता है किंतु काशी का-सा तूफ़ान ! वाह।"

उपर्युक्त टिप्पणी देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यासों के संबंध में है और चूँकि 'सुदर्शन' देवकीनंदन खत्री के लहरी प्रेस से ही छपता था अतः 'सुदर्शन' के लेखक को 'नमकहलाली' का श्रेय भी दिया गया है। इस तिलस्मी धारा से कुछ हटकर किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास धडाधड छप रहे थे, जिन्हें कुछ लोग सामाजिक उपन्यास कहकर उछाल रहे थे। गुलेरी जी ने इन उपन्यासों की सामाजिकता का भी पर्दाफ़ाश किया। एक लेख में वे कहते हैं—

"पं. किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा अपवित्र चरित्र-चित्रण करना लज्जा की बात है। जिन दिनों, आजकल की ऐय्यारी की तरह नाइटहुड का खब्त यूरोप को बरबाद कर रहा था, पादरी लोग उस स्रोत को रोकने के लिए, उसके विरुद्ध धर्मात्माओं के चरित्रांकन करते थे। क्या हमारे गोस्वामी जी पवित्र चरित्र लिख ही नहीं सकते ? क्या हिंदी ऐसे कायरों की भाषा हो गयी है, जो मरे बादशाहों की बालाओं पर सच्चे-झूठे कलंक मढ़ने और अबलाओं के कुछ कम धर्मनाश की कहानियाँ ही सुना करें ? हमारा स्वर नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह भले ही न सुना जाय, किंतु हम अपना फ़र्ज़ समझते हैं कि हिंदी पाठकों को इन प्रपंचों के विरुद्ध अपील करें। इनके पक्षपाती कह सकते है कि अंत में सच्चे का बोलबाला दिखाकर हम

उपदेश करते हैं किंतु इसमें बड़ी भूल है, पुस्तकें आजकल जो काम कर रही हैं, वह बड़ा भारी है। जगद्गुरु गद्दी के स्वामी का जितना बल नहीं है, उससे अधिक बल से पुस्तकें उपदेश कर सकती हैं। उदाहरण का फल भी बड़ा संक्रामक है। सौ पीछे नब्बे पाठकों के जी पर तो घटना पढ़ते ही वज्र-लेपहो जाती है और वे परिणाम को नहीं देखते। मनुष्य की पाप-प्रवण शक्ति परिणाम से शिक्षा न लेकर यह कहती है—"अमुक पापी का पराजय अमुक चूक से हुआ। हमें उससे बचना चाहिए।" अंत की दो पंक्तियों में दौड़े-दौड़े पापी को मारने और बीच के अध्यायों में पाप-कथा लिखने का फल कब अच्छा होगा? बीमारी का हाल जानना ही रोग है। बीमार ही रोग के वर्णन में रीझते हैं। पाप के मार्गों का जानना ही बुरा है, उन रहस्यों से परिचित होना ही पाप है। मुख्यस्तूपाय एतेषां निदानं परिवर्जनम्" इलाज से रोकना अच्छा है।···

"गोस्वामी जी के उपन्यास सभ्य समाज में कदापि अमर नहीं हो सकते यदि वे इस रीति का यों ही अनुसरण करते रहे।"

उस समय देवकीनदन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों से जो माहौल बना होगा, लगभग वैसा ही माहौल हमारे वर्तमान समय में भी बना हुआ है, पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में यह माहौल फ़िल्म उद्योग के कारण तो है ही, कुछ साहित्यिक रूपों के कारण भी है, जिसमें असाधारण पात्रों, असाधारण स्थितियों तथा यथार्थ के नाम पर निम्न वृत्तियों के परितोषको लक्ष्य में रखा जाता है। गुलेरी जी द्वारा उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया विश्लेषण आज भी सार्थक है और यह इसलिए और भी प्रासंगिक है कि हमारे वर्तमान समीक्षकों में कोई भी स्थिति का इस तरह विश्लेषण नहीं कर पाया है। गोस्वामी के उपन्यासों के संबंध में एक अन्य स्थान पर गुलेरी जी लिखते हैं—

"गोस्वामी जी के उपन्यास एक भद्दी लीक पर पड़ते जाते हैं। वही दु:ख में मिलन, परस्पर सहायता, प्रेम का उदय, छिपा प्रेम, पूरी कोर्टशिप, वियोग, मिलाप का आनंद, विवाह और कोहबर की एक दिल्लगी—वही बात उसी ढाँचें में। सबमें अधिकता से कर्णकटु एकतान। किंतु विवाह से पहले का प्रणय और पूरी खुलावट फरासीसी है, हिंदुस्तानी नहीं। समान चित्रों में विवाहेतर के प्रणय का चित्र देना क्या असंभव है?"

आज गुलेरी जी यह कहते कि अमुक चीज़ फरासीसी है, हिंदुस्तानी नहीं तो शायद हमारे अनेक प्रतिष्ठित लेखक और समीक्षक उनके पीछे लट्ठ लेकर पड़ जाते।

गोस्वामी और खत्री के उपन्यासों जैसा साहित्य आज भी लिखा जा रहा है और शायद आगे भी लिखा जायेगा, किंतु गुलेरी जी की तरह के समीक्षक आज भी

हमारे बीच नहीं है। गुलेरी जी ने मात्र आलोचना ही नहीं की, अच्छे साहित्य के मानदंड भी निश्चित किये। उन्होंने इतना ही नहीं कहा कि अमुक लेखन ग़लत है, बल्कि यह भी बताया कि सही लेखन क्या है। 'समालोचक' मे एक टिप्पणी में वे लिखते हैं—

"आप लोग दो प्रकार की रचना करते हैं। एक तो उन विलक्षण और असंभव ऐय्यारियों और तिलस्मों में गोते खिलाना है जो कभी न थीं और जो विज्ञान की चाहे कितनी ही उन्नति हो जाय, कभी भी संभव नहीं होगी। दूसरा गार्हस्थ्य और समाज के उन चित्रों को दिखाना है, जो वर्तमान समय में नहीं हैं, या तो प्राचीन समय में थे या उस समय भी कल्पना में ही थे।...

"हमें ऐसे उपन्यास-लेखक चाहिए जो प्रेममय परिश्रम से इन साधारण वस्तुओं के चित्रांकन करें, ऐसे मनुष्य जो इनमें सुंदरता देखते हैं और जिनको यह दिखाने में आनंद आता है *कि स्वर्गीय प्रकाश इन वस्तुओं पर किस तरह* पड़ता है।...इन बिरले असंभवों को मैं अपना सम्पूर्ण प्रेम और सम्पूर्ण सहानुभूति नहीं दे सकता, प्रेम के भाव का अधिकांश मुझे अपने प्रतिदिन के साथियों के लिए चाहिए, विशेषतः उनके लिए जो सदा मेरे पास हैं, जिनके चेहरे मैं जानता हूँ, जिनके हाथ मैं छूता हूँ और जिनके लिए अदब के साथ मुझे मार्ग छोड़ना पड़ता है।"

1905 में दी गयी गुलेरी जी की यह टिप्पणी साहित्य के उन मानदंडों की ओर इशारा कर रही है, जिन्हें हम आज भी नहीं अपना सके है। यदि हम ईमानदारी से अपने स्वातंत्र्योत्तर साहित्य का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि इसमें से तीन-चौथाई साहित्य बिरले असंभवों का अथवा मिथक, इतिहास अथवा कोरी कल्पना के उन चरित्रों का है, जिन्हे हम हाथ से नहीं छू सकते। इन बिरले असंभवों में ऐसे सभी पात्र सम्मिलित हैं, जो घोर व्यक्तिवादी जीवन के कारण आस-पास की दुनिया में नितांत अजनबी लगते हैं और आहार, निद्रा, भय से जूझ रहे करोड़ों बिलबिलाते मनुष्यों को आस-पास न देखकर केवल देहासक्ति की पीड़ा और तज्जन्य कुंठाओं की बातें करते हैं।

साहित्य के सौंदर्य-बोध के संबंध में गुलेरी जी बिल्कुल स्पष्ट थे। 'समालोचक' की एक टिप्पणी में वे सौंदर्य की अपनी कल्पना को स्पष्ट करते हैं :

"स्वरूप की देवी सुंदरता को उचित सम्मान के साथ प्रणाम है। मनुष्यों में, स्त्रियों में, बच्चों में, बाग़ों में, घरों में, यह सबसे अधिक बिराजे। परंतु हमें उस दूसरी सुंदरता से भी प्यार करना चाहिए जिसका संबंध देह की गठन से नहीं है, परंतु गंभीर मनुष्य सहानुभूति है। यदि सामर्थ्य है तो ऐसे देवता का चित्र खीच दो, जिसके आसमानी वस्त्र हों और चेहरे पर दैवी प्रकाश की आभा का मंडल हो, ऐसी राधा का चित्र खींच दो, जो दैव

भगवान की प्रतीक्षा में हाथ धरे अपने सुकुमार मुख को सुखा रही हो, परंतु हम पर उन कल्पित नियमों को न चलाओ।"

जैसाकि पहले कहा जा चुका है गुलेरी जी का प्रमुख क्षेत्र इतिहास, पुरातत्त्व, प्राच्यविद्या, लिपिविज्ञान और भाषाविज्ञान था। 'समालोचक' के माध्यम से वे साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त अराजकता पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए बाध्य हुए। कहानी-उपन्यास का उस समय उदय हो रहा था। ये साहित्यिक रूप हमें परंपरा से नहीं मिले थे, पश्चिमी संस्कृति के साथ हमारे संपर्क के कारण हम इन्हें नये सिरे से विकसित कर रहे थे। आनेवाले समय के यह महत्त्वपूर्ण साहित्य रूप बननेवाले थे, इसलिए गुलेरी जी इनसे उदासीन नहीं रह सके। उन्होंने कथा-साहित्य पर जो विचार प्रकट किये, वे किन्हीं शास्त्रीय रूढ़ियों का अनुसरण मात्र नहीं थे। उन्होंने मौलिक ढंग से इन प्रश्नों पर विचार किया और शायद अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए ही उन्हें कहानी-लेखन के क्षेत्र में उतरना पड़ा।

कहानी-लेखक—गुलेरी

गुलेरी जी के नाम से कुल तीन कहानियाँ प्रकाश में आयी है 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' कहानियाँ 1911 में छपीं और 'उसने कहा था' 1915 में। पहली दो कहानियाँ तो इतनी प्रसिद्ध नहीं हुईं किंतु तीसरी कहानी ने प्रसिद्धि के सारे कीर्तिमान तोड़ दिये। वस्तुतः पहली दो कहानियाँ भी अपने समय की अद्‌भुत कहानियाँ थीं। आज जब हिंदी कहानी लगभग अस्सी साल की यात्रा तय कर चुकी है, हमें इन कहानियों में कुछ त्रुटियाँ दिखायी देती हैं लेकिन उस समय ये कहानियाँ निश्चय ही एक नयी जमीन पर खड़ी थीं। यदि हम इन कहानियों पर गुलेरी जी की मान्यताओं के संदर्भ में विचार करे, तो इनका महत्त्व आज भी कम नहीं लगेगा।

'सुखमय जीवन' कहानी छद्‌मलेखन पर किया गया व्यंग्य है। मात्र किताबी ज्ञान के बल पर, अनुभव की आँच में तपे बिना साहित्य लिखनेवालों और हर पुस्तक को बिना विवेचन ब्रह्मवाक्य की तरह लेनेवालों का 'कैरीकेचर' इस कहानी में प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से देखने पर यह आज भी एक सशक्त व्यंग्य है।

जयदेवशरण वर्मा बी. ए. पास करने के बाद कुछ पुस्तको से ज्ञान संचय करके सुखी वैवाहिक जीवन पर एक पुस्तक लिखते हैं जबकि वे स्वयं अविवाहित है। वैवाहिक जीवन के बारे में उनका अनुभव शून्य है। समालोचक पुस्तक-लेखक को आड़े हाथों लेते है और पुस्तक की साल-भर में कुल सत्रह प्रतियाँ बिकती हैं। संयोग से यह पुस्तक गुलाबराय वर्मा नाम के नवप्रबुद्ध ब्रह्मसमाजी तथा उनकी बेटी कमला को बहुत पसंद आती है और वे समझते हैं कि पुस्तक अनुभव-निष्णात व्यक्ति ने लिखी होगी जबकि गुलाबराय की पत्नी का विचार होता है कि पुस्तक सुनी-सुनायी बातों के आधार पर लिखी गयी है। पुस्तकें लिखनेवाले भी अनाड़ी, और पुस्तकें पढ़नेवाले भी अनाड़ी, यही इस कहानी का व्यंग्य है और इसे कई तरह से उभारा गया है।

जयदेव शरण वर्मा की साइकिल का टायर पंक्चर हो जाता है, और जब वे

असमजस में होते है तो एक नाटकीय घटना हो जाती है। एक सुंदर लड़की कमला उनके भोले सलोने चेहरे पर तरस खाकर उन्हे अपने घर ले आती है और नाम आदि पूछने पर जब उसे पता चलता है कि वह व्यक्ति 'सुखमय जीवन' का लेखक है तो वह धन्य हो उठती है। लेखक यहाँ टिप्पणी देता है कि, "स्त्री के सामने उसके नैहर की बड़ाई कर दे और लेखक के सामने उसके ग्रंथ की, यह प्रिय बनने का अमोघ मंत्र है।" फिर जब कमला अपने पिता से जयदेव का परिचय कराती है और पिता बताते है कि जब से वे पत्नी को रोज़ रात आधा घंटा वह पुस्तक सुनाने लगे है, उनका वैवाहिक जीवन कितना सुखमय हो गया है। इसपर जयदेव सोचता है, "मुझे कमला की माँ पर दया आई, जिसे वह कूड़ा-करकट रोज़ सुनना पड़ता था। मैंने सोचा कि हिंदी के पत्र-संपादकों मे यह बूढ़ा (गुलाबराय) क्यों नहीं हुआ? यदि होता तो आज मेरी तूती बोलने लगती।"

यह व्यंग्य तब और तीखा होता है जब जयदेव संक्षिप्त परिचय के बाद, कमला को अकेली बगीचे मे पाकर उसका हाथ पकड़ लेता है। अनेक पुस्तको में प्रेमी-प्रेमिका के वार्तालाप याद होने पर भी उसे कुछ शब्द नहीं सूझते और हाथ पकडकर ही प्रेम जताने लगता है। उधर कमला की पुस्तकों से अर्जित नवप्रबुद्धता एक क्षण में हवा हो जाती है और उसके पिता भी जयदेव को लफंगा कह झाड़-फटकार सुनाने लगता है। लेकिन जब जयदेव उन्हें बताता है कि वह अविवाहित है और पुस्तक उसने सचमुच सुनी-सुनाई बातो के आधार पर लिखी है, तो कमला और बाबू गुलाबराय दोनों पानी-पानी हो जाते हैं और जयदेव के साथ कमला का विवाह तय हो जाता है।

इस प्रकार यह कहानी शुरू से आखिर तक उस समय के छद्म लेखकों और छद्म पाठकों पर तीखा प्रहार करती है। नाटकीय स्थिति के द्वारा व्यंग्य को और प्रखर बनाया गया है और चुहलबाज़ी तो कहानी के प्रत्येक वाक्य में है। कुछ समीक्षकों ने इस कहानी को अतिनाटकीयता और असंभाव्यता के कारण कमज़ोर या सामान्य कोटि का कहा है। उदाहरण के लिए डॉ. नगेन्द्र कहते हैं कि 'सुखमय जीवन' में तो कहानी अच्छी तरह बन भी नही पायी। उसकी चरम घटना में विस्मय का अत्यंत अस्वाभाविक और अतिरंजित प्रयोग है। किंतु यदि इस कहानी को व्यंग्य रचना के रूप में देखें, तो अस्वाभाविकता और अतिरंजन स्वाभाविक और अनिवार्य तत्त्व बन जाते है।

दूसरी कहानी 'बुद्धू का काँटा' को भी कुछ लोग कहानी की कला की वर्तमान धारणाओं के अंतर्गत कमजोर पाते है। डॉ. नगेन्द्र इस कहानी को पहली से कही अधिक सफल बताते हैं किंतु यह भी कहते हैं कि, "इसमें भी अतिरंजना और अप्रासंगिकता है।"

मुश्किल यह है कि हम लेखक के मूड को समझे बिना, अपने मूड के अनुसार

कहानी का विवेचन करने लगते है। लेखक का मूड यदि व्यंग्य का है, तो 'फार्स' और अतिरंजना उसके अनिवार्य औजार होंगे। दुनिया के तमाम व्यंग्यकारों की रचनाओं में ये तत्त्व मौजूद रहते है, उनके बिना व्यंग्य को पैना बनाया ही नहीं जा सकता।

बुद्धू का काँटा' की व्यंग्य दृष्टि कुछ अधिक व्यापक है। ऐसा लगता है कि इस कहानी को शुरू करते समय लेखक के मन में उपन्यास लिखने की इच्छा रही होगी। इस कहानी का ढाँचा उपन्यास का-सा है इसीलिए वे रघुनाथप्रसाद त्रिवेदी के पिता बाबूजी और इलाही का विस्तार के साथ शब्द-चित्र खींचते है। ध्यान देने की बात है कि दोनों शब्द-चित्रों में लेखक की व्यग्य दृष्टि भी स्पष्ट है और मानव के प्रति गहन संवेदना की भी। रघुनाथप्रसाद के पिता के चित्र में वे सीधे-सच्चे आदमी के इस दुनिया में मिसफिट होने की सचाई पर व्यंग्य कसते हैं। वे कहते है—

> "बाबू बड़े सीधे, अपने सिद्धांतों के पक्के और खरे आदमी है, जैसे पुराने ढंग के होते हैं। बैंक के स्वामी इन पर इतना भरोसा करते हैं कि कभी छुट्टी नहीं देते और बाबू काम के इतने पक्के हैं कि कभी छुट्टी नहीं माँगते। न बाबू वैसे सनातनी है कि बिना मुँह धोये ही तिलक लगाकर स्टेशन पर दरभंगा महाराज के स्वागत को जाएँ और न ऐसे समाजी है कि खँजडी लेकर "तोड़ पोपगढ़ लंका का" करने दौड़ें। उसूलों के पक्के हैं।"

इसके बाद दो पैराग्राफ में बाबू की 'टिपिकल मैकाले कृत बाबू' के रूप में मनोहारी तसवीर खीची गई है, जो अपने अंग्रेज़ी ज्ञान पर मुग्ध है और लाटसाहब को अपने अंग्रेजी-ज्ञान से चमत्कृत करनेवाले अपने गुरु का बार-बार बखान करता है। इसके साथ ही रघुनाथ की माँ का भी अच्छा शब्द-चित्र है, "जिसे सास बनने का बहुत चाव है किंतु जब वह पति से इस विषय मे कुछ कहने लगती है तो बाबू जी बैंक की लेजरबुक खोलकर बैठ जाते है या लकड़ी उठाकर घूमने चले जाते हैं।"

इसके बाद लेखक तीसरे पात्र इलाही से पाठक का परिचय कराता है। यह पात्र अपने में एक सम्पूर्ण कहानी है। इलाही और उसकी पत्नी किसी नवाब के यहाँ नौकरी पर थे। एक दिन इलाही को सपने में मौला दिखाई दिए और उन्होंने उसे हज पर जाने के लिए कहा। इलाही ने कंबल उठाया और आधी रात को चल दिया। वह भीख माँगता-माँगता बंबई पहुँचा। वहाँ एक हिंदू स्त्री ने टिकट खरीद दिया और वह मक्का पहुँच गया। हज से लौटते समय उनका जहाज़ पानी में डूब गया और चार दिन समुद्र में किश्ती पर भटकने के बाद एक जहाज़ ने उन्हें बचा लिया। घर पहुँचा तो देखा नवाब ने उसका घर-बार तबाह कर दिया है और

उसकी पत्नी पर चोरी का इलजाम लगाकर उसे खूब पीटा तथा बाहर निकाल दिया है। रघुनाथ ने पूछा तुमने फरियाद नही की तो इलाही बोला—

> "बाछा, कचहरियाँ ग़रीबो के लिए नही हैं, वे तो सेठों के लिए हैं। ग़रीबों की फरियाद सुननेवाला सुनता है।···मेरी औरत को मारते-मारते उस पाजी के हाथ की अँगुली मे बेत की सली चुभ गई, वही पक गई। लहू मे ज़हर हो गया। पद्रहवे दिन मर गया।

इन तीन पात्रो के बाद कहानी लेखक रघुनाथ और भागवंती का भी प्रवेश कराता है। रघुनाथ प्रयाग से पढ़कर आया युवक है, जो गाँव के तौर-तरीक़ो से बिल्कुल अनभिज्ञ है। भागवंती कुएँ मे पानी भरनेवाली महिलाओं के दल मे एक ही हँसोड़, चुलबुली और बड़बोली किशोरी है। वह रघुनाथ के बुद्धूपन पर फबतियाँ कसती है क्योंकि वह कुएँ से पानी का लोटा भी नही खींच सकता और औरतों से बात करते पसीना-पसीना होने लगता है। मजाक और फ़बतियाँ सीमा से कुछ आगे बढ़ जाती हैं और रघुनाथ बुरी तरह परास्त होता है। फिर वही लड़की नदी किनारे उसे मिलती है और उसकी हर बात की नकल उतारती है। इसपर वह उसे पकड़ने के लिए उठता है और पैर रपट जाने से नदी में गिर पडता है। भागवती उसे डूबने मे बचाती है। इस भाग-दौड में भागवती के पैर में काँटा चुभता है, जिसे रघुनाथ निकालता है और अपनी जेव में रख लेता है। संयोग से इसी लड़की के साथ माता-पिता द्वारा रघुनाथ का सबंध निश्चित किया गया होता है। विवाह के फेरों के बाद जब वे दुशाले की ओट मे एक-दूसरे को देखते है तो दोनों हतप्रभ रह जाते है। बाद मे मिलन के समय भागवती अपनी उद्दंडता के लिए पति रघुनाथ से क्षमा माँगती है और रघुनाथ सुरक्षित रखे हुए काँटे को दिखाकर अपनी मनोभावना को प्रकट करता है।

इस प्रकार कुल मिलाकर यह कहानी एक प्रेमकथा बन जाती है। लेकिन क्या यह मात्र एक प्रेमकथा है? क्या लेखक का अभिप्राय एक प्रेम प्रसंग को नये ढंग से सुना देना भर है? क्या इसमें बाबू का अतीत राग, इलाही का मस्तमौला-पन, भागवंती का उच्छल जीवन-राग, रघुनाथ का बुद्धूपन और ग्रामीण जीवन की ताज़गी निष्प्रयोजन या आकस्मिक ही है।

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए हमें गुलेरी जी के मूड को और उनकी समग्र मानसिकता को समझना होगा। गुलेरी जी अगाध पांडित्य की दुनिया में रहनेवाले लेखक थे। यह पांडित्य उन पर हावी न हो जाए, उनकी प्राणवत्ता को लील न जाए, इसके लिए व्यंग्य-विनोद, हास्य और आश्चर्य की वृत्तियो को सतत् जागरूक बनाए रखने के लिए वे प्रयत्नशील रहे। इन स्थितियों की तलाश और रचना उनके लेखन का एक प्रमुख अभीष्ट था। ऐसे किसी भी अवसर को वे हाथ

से नहीं जाने देना चाहते थे, जिसमें उन्हें इन वृत्तियों के परितोष की गुंजाइश दीखती थी।

'उसने कहा था' कहानी में भी (जिसमें प्रेम एक आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में प्रकट हुआ है) गुलेरी जी ताँगेवाले के संवादों मे अथवा सिपाहियों के वार्तालाप में हास्य-विनोद और जीवन की ताज़गी पर उतना ही बल देते हैं, जितना प्रेम की आध्यात्मिक अनुभूति पर। इसके अतिरिक्त जैसा कि पीछे कहा गया है कि 'बुद्धू का काँटा' कहानी की बंदिश उपन्यास की है। उसी तरह 'उसने कहा था' की बंदिश भी उपन्यास की है। दुर्भाग्य से गुलेरी जी को लंबी उम्र नहीं मिली, और जो मिली, उसमें भी वे बहुत कम समय साहित्य को दे पाए। यदि उन्हें लंबी उम्र मिलती तो संभव है, 'बुद्धू का काँटा' और 'उसनें कहा था' को उपन्यास में रूपायित करते।

'बुद्धू का काँटा' कहानी का एक अंश 'पनघट' शीर्षक से अलग छपा बताया जाता है। शायद समयाभाव के कारण उन्हें उपन्यास लिखने का इरादा छोड़ देना पड़ा और कहानी के रूप में वे केवल पनघट वाले अंश को ही रखना चाहते थे। 'उसने कहा था' कहानी को उपन्यास का रूप देने की उन्होंने (कहा जाता है) कोशिश भी की थी और किसी के पास इस कहानी के आगे के एक अंश की पांडुलिपि भी बताई जाती जाती है। लेकिन फ़िलहाल तो हमें इन्हें कहानियाँ मानकर ही चलना पड़ेगा।

तीसरी कहानी 'उसने कहा था' तो कालजयी रचना सिद्ध हो ही चुकी है क्योंकि इसी एक कहानी के बल पर गुलेरी जी पौन शताब्दी से हिंदी-जगत् पर छाए हुए रहे। विमल राय द्वारा इस कहानी पर फ़िल्म बनाये जाने के बाद इसकी लोकप्रियता में और भी विस्तार हुआ। यह कहानी प्रेम की आध्यात्मिक अनुभूति की है। आध्यात्मिक इस अर्थ में कि इसमें प्रेमी-प्रेमिका के बीच शारीरिक संबंध की ऊष्मा नहीं है बल्कि प्रेम एक ज्योति की तरह दोनों के हृदय में विद्यमान रहता है और वह अनुभूति इतनी सुखद, इतनी निर्मल है कि युद्ध की विभीषिका भी उसे मंद नहीं कर पाती।

कहानी के शुरू में अमृतसर के भीड़ भरे बाजार में बारह वर्ष का लड़का (लहना सिंह) आठ वर्ष की एक लड़की को ताँगे के नीचे आने से बचाता है और इस तरह दोनों का परिचय होता है। लड़का लड़की को यह पूछकर छेड़ता है, "तुम्हारी कुड़माई (मँगनी) हो गई?" और लड़की "धत्" कहकर भाग जाती है। लेकिन एक दिन लड़की धत् कहकर भागने की बजाय कहती है, "हाँ, कल हो गई। देखते नहीं, यह रेशम के फूलों वाली सालू?" और लहना सिंह को इसपर दुःख होता है, फिर क्रोध आता है न जाने क्यों?

उसके बाद लहना सिंह का परिचय प्रथम विश्व युद्ध के मोर्चे पर होता है,

और वह याद करता है कि छुट्टी के बाद घर से लाम पर जाते समय सूबेदार हजारा सिंह के घर गया था। वहाँ सूबेदारनी ने उसे एकांत मे बुलाकर कहा था कि मेरे पति और बेटे (बोधा) का खयाल रखना। यह सूबेदारनी वही लड़की थी; जिससे अमृतसर के बाज़ार मे उसका परिचय हुआ था और लहना सिंह सूबेदारनी के प्यार की उस किरण को हृदय मे सँजोकर, अपने प्राणो की बलि देकर भी हजारा सिंह और बोधा की रक्षा करता है।

यह कहानी अपने समय की सर्वाधिक सम्मानित पत्रिका 'सरस्वती' में जून, 1915 मे छपी थी। उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'सौत' भी 'सरस्वती' मे ही छपी थी और वह भी दिसम्बर, 1915 के अक में। मर्यादा और शील की भावना से आक्रांत के 'सरस्वती'-संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी न इसके कुछ शब्द और एकाध वाक्य निकाल दिये थे, जिन्हें वे अश्लील समझते थे किंतु इसके अतिरिक्त कोई विशेष काट-छाँट नही की थी। तब से यह कहानी नित नये सौदर्य का उद्घाटन करती रही है और हर पीढ़ी के लिए इसका आकर्षण बना रहा है। कहानी को छाँट-तराश कर हड्डियों का कंकाल बना देनेवाले एकाध समीक्षको ने इस कहानी मे भी ताँगेवाले प्रसग को फ़ालतू क़रार दिया लेकिन कुल मिलाकर इस कहानी को अपने में पूर्ण कहा गया।

गुलेरी जी की इन तीनों कहानियों को यदि हम उस समय के कथा-साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे रखकर देखे और साहित्य के संबंध में 'समालोचक' में प्रकाशित गुलेरी जी की टिप्पणी को ध्यान में रखें तो इन कहानियों में कुछ ऐसी विशेषताएँ नज़र आयेंगी, जिनकी तरफ़ हमारा ध्यान अभी नही गया है। तिलस्मी, ऐय्यारी कथा-साहित्य और फार्मूलाबद्ध सामाजिक साहित्य पर गुलेरी जी यह आरोप लगाते है कि यह साहित्य विलक्षण और असभाव्य पात्रों को लाकर मात्र चटनी का स्वाद देनेवाला कुतूहल पैदा करता है। उनका आग्रह था लेखक अपने आसपास की सामान्य वस्तुओं और सामान्य पात्रों में सौदर्य को देखें और उस दुनिया का चित्रण करें, जिसे पाठक छू सकता है। जिंदगी से जुड़ा हुआ यथार्थ साहित्य उस समय लिखा नही जा रहा था और शायद किसी को विश्वास भी नही हो रहा था कि इस तरह का साहित्य लिखा जा सकता है। गुलेरी जी ने इस दिशा में स्वयं प्रयास करने का निश्चय किया, जिसके परिणामस्वरूप ये तीन कहानियाँ लिखी गई हैं।

इन तीनों कहानियों के पात्र सामान्य हैं। उनकी तरह के मनुष्य उस समय के समाज में एकाध नही, अनेक होंगे। कमला के पिता गुलाबराय वर्मा एक नव-प्रबुद्ध समाज के आम पात्र हैं। कमला भी नवशिक्षा और पुराने संस्कारों के बीच झूलती हुई अनेक लड़कियो का प्रतिनिधित्व करती है। जयदेवशरण भी अनुभवहीन लेखन करनेवालों के प्रतिनिधि हैं। 'बुद्धू का काँटा' कहानी के बाबूजी, इलाही, रघुनाथ

या भागवंती को भी विलक्षण और असंभव चरित्र नहीं कहा जा सकता और न ही 'उसने कहा था' के लहना सिंह या सूबेदारनी के चरित्रों को। इन साधारण पात्रों को लेकर असाधारण सौंदर्य की सृष्टि करना गुलेरी जी का अभीष्ट रहा होगा। अपने आसपास की दुनिया को तिलस्मी दुनिया से ज्यादा खूबसूरत सिद्ध करने के लिए गुलेरी जी 'बुद्धू का काँटा' में ग्रामीण जीवन का मनोहारी चित्र प्रस्तुत करते हैं और रघुनाथ फटी आँखों से उस सौंदर्य को देखता रह जाता है। इलाही की कथा (अप्रासंगिक ही सही) इसलिए लायी गयी ताकि गुलेरी जी बता सकें कि ऐसी घटनाओं में सद्साहित्य के लिए कितनी संभावनाएँ हैं। वे कहते हैं—

> "कितने ही ग़रीबों का इतिहास ऐसी चित्र घटनाओं की धूपछाया से भरा हुआ है। पर हम लोग प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को न देखकर उपन्यासों की मृगतृष्णा में चमत्कार ढूँढ़ते है।"

एक और बात ध्यान देने योग्य है। जिंदगी की जिन स्थितियों के बिंब गुलेरी जी ने अपनी कहानियों में दिये, वे आज भी हमारे लिए ताज़ा हैं। बंबइया फ़िल्मों में और किशोरीलाल गोस्वामी के ढर्रे पर आज भी लिखे जा रहे उपन्यासों में जिस प्रकार प्रेम की स्थितियाँ साँचों में ढलकर औद्योगिक उत्पाद बन गई है, लगभग वैसे ही अन्य साहित्य में भी एक-सी स्थितियों, एक से पात्रों और उनकी एक-सी प्रतिक्रियाओं के कारण अजीब बासीपन आ गया है, विशेषकर पश्चिम के साहित्यिक वादों से प्रभावित साहित्य में। गुलेरी जी की इन तीन कहानियों के बिंब ताज़ा हैं और हर पीढ़ी के लिए ताजा बने रहेंगे क्योंकि ये मौलिक बिंब हैं, उधार लिये हुए नहीं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'उसने कहा था' में खदकों का दृश्य अंग्रेज़ी की किसी पुस्तक से लिया गया है, जिसमें प्रथम विश्वयुद्ध की कहानियाँ है अतः इस कहानी की मौलिकता संदिग्ध है। हो सकता है, गुलेरी जी ने खदकों में सैनिक जीवन का विवरण किसी पुस्तक से लिया हो, आखिर गुलेरी जी युद्ध के मोर्चे पर तो कभी गए नहीं। हर लेखक को कुछ सामग्री अपने प्रत्यक्ष अनुभव से बाहर के क्षेत्र से लेनी पड़ती है लेकिन इस कच्ची सामग्री का मौलिकता से कोई संबंध नहीं होता। कुड़माई और रेशमी सालू की घटना, सूबेदारनी और लहना सिंह के चरित्र किसी विदेशी पुस्तक के आधार पर निर्मित हो ही नहीं सकते। कहानी की मौलिकता लड़ाई के मोर्चे की दृश्य-योजना पर नहीं, चरित्रों के सृजन और मूल्यों की अभिव्यक्ति पर निर्भर करती है।

गुलेरीजी पर कतिपय अश्लील शब्दों के बेधड़क प्रयोग का आरोप भी लगाया गया है। इसेसेक्स की कुंठा का परिणाम बताया गया है। 'सेक्स' जीवन की एक स्वस्थ मनोवृत्ति है और जिनमें कुठा होती है, उनके चेहरे 'सेक्स' का

नाम आते ही विवर्ण हो उठते हैं। एक मुक्त मन ही 'सेक्स' को एक सहज जीवन व्यापार के रूप में चित्रित कर सकता है। गुलेरी जी ने जहाँ सेक्स का वर्णन किसी रोग के रूप में नहीं किया है, (जैसा कि बाद के व्यक्तिवादी लेखन में पाया जाता है) अपितु जीवन के स्वास्थ्य के लक्षण के रूप में किया है। युद्धभूमि में मौत के ख़्याल को मन से हटाने के लिए सैनिकों द्वारा गाया गया गीत "कर लैणां लोगां दा बपार मड़िए, कर लैणां नाड़े दा सौदा अड़िए" कितना सटीक है। यह बात 'संस्कृत की टिपरारी' लेख से स्पष्ट होती हैं, जिसमें गुलेरी जी अश्लील प्रसंगों को भी अंग्रेजी साहित्य और महाभारत के हवाले देकर, सौंदर्य से भरपूर सिद्ध करते हैं।

गुलेरी जी की तीनों कहानियाँ परिस्थितियों पर इच्छाशक्ति की विजय की रचनाएँ हैं, इसलिए वे आज भी ताज़गी और ऊर्जा से ओतप्रोत हैं। इच्छाशक्ति के उद्दाम वेग ने उन्हें परिस्थितियों पर विजयी होकर ऐसी कहानियाँ लिखने में समर्थ बनाया, जो आज भी पाठक को कुंठामुक्त करने में सहायक हो सकती हैं।

निबंधकार गुलेरी

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का प्रमुख क्षेत्र निबंध रहा। वस्तुतः गुलेरी जी का समय निबंध *साहित्य का स्वर्ण काल* था। भारतेन्दु काल के लेखक, कवि और नाटककार प्रमुखतः निबंधकार ही थे। कथा-साहित्य अर्थात् कहानी और उपन्यास का वह शिशुकाल था लेकिन निबध विधा काफ़ी प्रौढ़ हो गयी थी। भारतेन्दु काल में अधिकांश निबध-लेखन सामयिक पत्रिकाओ में लेखों के रूप में हुआ इसलिए उस समय के अधिकांश निबंधों में भाषा का चुलबुलापन, कथन की वक्रता और हास्य-विनोद का पुट, विषयिगत दृष्टि रहती थी। उस समय के सबसे प्रसिद्ध निबधकार बालकृष्ण भट्ट निबध मे लालित्य की सृष्टि हास्य और वक्रोक्ति के माध्यम से करने की बात कहते हैं। वे कहते हैं :

> "सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ कुंद की कली के मामान दाँत न खिल उठें तो वह लेख ही क्या ? हमारे सस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन माना गया है। हास्य में कुछ न कुछ वक्रोक्ति रहती है।"

उक्त कथन पत्रिकाओं में छपनेवाले हल्के-फुल्के लेखों पर ही लागू होता है। गुलेरी जी के बाद रामचद्र शुक्ल ने भी निबंध को एक साँचे में बाँधने की कोशिश की और विदेशी आचार्यों का 'मॉडल' अपने सामने रखते हुए कहा—

> "निबंध लेखक किसी बिंदु से चलकर तार्किकों के समान किसी ओर सीधा न जाकर अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार, स्वच्छंद गति से कभी इधर, कभी उधर मुड़ता हुआ नाना अर्थ संबंध सूत्रों पर विचारता चलता है।"

यह छात्रोपयोगी परिभाषा यूरोप आदि देशों मे किसी समय लोकप्रिय व्यक्तिवादी और कलावादी लेखन से प्रभावित है, जिसमें विषय का प्रतिपादन महत्त्वपूर्ण नही, विषयि का प्रतिबिंब महत्त्वपूर्ण होता है। दूसरे शब्दों में यह 'कला कला के लिए' के सिद्धांत का अनुसरण है, जो पश्चिमी देशों में पूँजीवादी सभ्यता के चरमोत्कर्ष पर एक खास मानसिकता से पैदा हुआ था। प्रसन्नता की बात है

कि शुक्ल जी ने स्वयं जो निबंध लिखे, वे इस परिभाषा के अनुरूप नहीं है ।

गुलेरी जी के समक्ष विषयिप्रधान निबंध, सामयिक लेख और गवेषणात्मक लेख इस तरह का भेद नहीं था। भारतेन्दु काल के सभी लेखक, जो सामयिक पत्रिकाओं में लेख लिखते थे निबंधकार थे और इतिहास, पुरातत्त्व, प्राच्यविद्या आदि विषयों का गंभीर विवेचन करनेवाले विद्वान भी मुख्यतः निबंधकार थे। निबंधों की अलग-अलग शैलियाँ थीं लेकिन अलग-अलग नाम नहीं थे। गुलेरी जी का अधिकांश निबध लेखन इतिहास, पुरातत्त्व, प्राच्य विद्या, भाषा विज्ञान आदि गंभीर विषयों पर हुआ। खंडन-मंडन उस समय की एक प्रमुख बौद्धिक गतिविधि थी। उसमें विषयिगत स्पर्श भी रहता था किंतु मुख्य रूप से उनका लक्ष्य अपने विषय का प्रतिपादन करना होता था। वे मात्र पाठको के 'दाँतों को कुद कली-सा खिलाने के लिए' नही लिखते थे, अपितु किसी सत्य की तलाश मे प्रवृत्त होते थे और पाठकों को भी उस तलाश मे भाग लेने के लिए प्रेरित करते थे। यह साहित्य की सही दृष्टि है क्योंकि साहित्य का काम पाठक को हँसाना, रुलाना, बहलाना या गुदगुदाना नही होता, बल्कि कल्पना को प्रेरित करके उसे किसी खोज में, किसी सृजन में लगाना होता है।

गुलेरी जी के निबंध-लेखन का शैलीगत विभाजन करने के बजाय विषयानुसार विभाजन करना अधिक समीचीन होगा। उनके लगभग एक सौ छोटे-बड़े निबंध तथा टिप्पणियाँ विभिन्न पुस्तको मे संगृहीत की जा सकी है। बहुत-सारा लेखन अब भी पुरानी पत्रिकाओं में बिखरा हुआ है और शोधार्थियों द्वारा खोज की प्रतीक्षा कर रहा है। जिन पुस्तकों में उनका अब तक उपलब्ध निबध-साहित्य संगृहीत हैं, उनके नाम इस प्रकार है—

गुलेरी ग्रंथ, भाग एक—संपादक : कृष्णानंद। प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी। संवत् 2000 वि०।

पुरानी हिंदी—संपादक : पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी। संवत् 2010 वि०।

गुलेरी साहित्यालोक—संपादक : डॉ. मनोहर लाल। प्रकाशक : किताब घर, दिल्ली। 1983 ई०।

श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी—व्यक्तित्व और कृतित्व : लेखक डॉ. पीयूष गुलेरी, प्रकाशक : ऋषभचरण जैन एवं संतति, नयी दिल्ली, 1983

गुलेरी गरिमा ग्रंथ—लेखक : पं. झाबरमल्ल शर्मा। प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी। 1984 ई०।

मोटे तौर पर गुलेरीजी के निबंधों को चार श्रेणियों में रखा जा सकता है—

—प्राच्यविद्या;

—इतिहास, पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान;

—सामयिक स्थितियाँ, समस्याएँ एवं व्यक्ति;

—टिप्पणियाँ।

प्राच्य विद्या विषयक निबंध:—इस श्रेणी के अंतर्गत वेद, पुराण, उपनिषद् और स्मृतियों आदि के विभिन्न विषयों पर लिखे गये निबंध आते हैं, जिनके शीर्षक इस प्रकार है:—

पृथु वैन्य का अभिषेक, मनुवैवस्वत, सुकन्या की वैदिक कहानी, पुनःशेण की कहानी, पुराने राजाओं की गाथाएँ, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, सौत्रामणि का अभिषेक, चाणूर अंध, महर्षि च्यवन का रामायण, विक्रमोर्वशी की मूल कथा।

इतिहास, पुरातत्त्व और भाषा विज्ञान:—इस श्रेणी के अंतर्गत निम्नलिखित निबंध हैं :—

देवकुल, शैशुनाक की मूर्तियाँ, बौद्धों के काल में भारतवर्ष, राजाओं की नीयत से बरकत, पुरानी पगड़ी, खसों के हाथ मे ध्रुवस्वामिनी, पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घस-यस = ज (z), कादम्बरी के उत्तरार्ध का कर्त्ता, कादम्बरी और दशकुमार चरित के उत्तरार्ध, तुलातिः कुमारिल, न्याय घंटा, पंचमहाशब्द, अवंतिसुंदरी, चारण, चारण और भाटों का झगड़ा, सवाई, श्री श्री श्री, राजाओं की चिट्ठियाँ, पृथ्वीराज विजय महाकाव्य जयसिंह प्रकाश, सिंहल-द्वीप में महाकवि कालिदास का समाधि स्थान, जालहंस की सुभाषितमुक्तावली और चंद की षड्भाषा, पुरानी हिंदी, उलूलुध्वनि = हुर्रा, संस्कृत की टिपरारी, अमंगल के स्थान पर मंगल शब्द, वेलावित्त, डिंगल, देवानां प्रिय, यूनानी प्राकृत, संगीत।

सामयिक स्थितियाँ, समस्याएँ और व्यक्ति:—इसके अंतर्गत आनेवाले निबंध शीर्षक इस प्रकार हैं:—

कछुआ धरम, मारेसि मोहिं कुठाऊँ, होली की ठिठोली का एप्रिल फूल, योरोपियन संस्कृत, शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन, खेल भी शिक्षा है, जोड़ा हुआ सोना, इंडियन नेशनल कांग्रेस, डिनामिनेशनल कॉलेज, धर्म और समाज, बंग का भंग, वंशच्छेद, काशी, रावसंसारचंद्र सेन, मनीषि समर्थदान जी, कविराज मुरारिदान जी, आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी, काशी की नींद और काशी के नूपुर।

टिप्पणियाँ:—*इन लघु टिप्पणियो को निबंध तो नही कहा जा सकता किंतु खोज* पूर्ण दृष्टि एवं ललक, भाषा, सौष्ठव अथवा तीखे व्यंग्य के कारण इन टिप्पणियों का भी अपना महत्त्व है। टिप्पणियों के शीर्षक निम्नलिखित हैं—अनुवादों की बाढ़, आत्मघात, कलकत्ते का अशोकारिष्ट, खरे सज्जनों को खरी चिट्ठियाँ, खोज की खाज, घड़ी के पुर्जे, घंटाघर, छट्ट, झख मारना,

खूब तमाशा, रामचरितमानम और संस्कृत कवियों का बिंब-प्रतिबिंब भाव पाणिनि की कविता, कुछ पुराने रिवाज और विनोद, लायलपुर के बछड़े, दूध के पैग़म्बर, धर्म में उपमा, बनारसी ठग, ब्रह्मचारी को पान खिलाना, ढेले चुन लो, असूर्यंपश्य राजद्वारा, अक्ल बनाम नस्ल, पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पुराना व्यापार, भारद्वाज गृह्यसूत्र, बेसिर की हिंदी, पानी पीकर रह जाती है, श्रद्धा, सुगतेता = मृगनेत्रा, कस्तूरीमृग, नौरंगशाह के नौरग, हिंदी साहित्य, पूत्कार या पुकारना, क्रियाहीन हिंदी, विरामण की सरवण की, पूर्णपात्र, वैदिक भाषा में प्राकृतपन।

इसके अतिरिक्त गुलेरी जी द्वारा लिखित 'आँख' शीर्षक का एक वैज्ञानिक निबंध तथा अंग्रेजी में लिखे कुछ निबंध भी हैं। अंग्रेज़ी निबंधों के शीर्षक हैं:— ए साउण्ड मोलाराम, ककातिका मार्क्स, आन शिवाभागवत इन पतंजलि महाभाष्य, दि रियल आथ्रर आफ जयमंगला, ए कामेंटरी आन वात्स्यायनस् कामसूत्र, दि लिटरेरी क्रिटिसिज्म, ए पोइम बाय भास तथा दि जयपुर आब्जर्वेटरी ऐण्ड इट्स बिल्डर्स (सहसंपादन)।

वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि प्राचीन ग्रथों का अवगाहन और खंडन-मंडन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के बुद्धिजीवियों का मुख्य विषय बना हुआ था। एक तरफ़ राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद आदि के धार्मिक सामाजिक आंदोलनों से इसे प्रेरणा मिली। दूसरी तरफ़ पश्चिमी देशों में प्राच्य विद्या के प्रति आकर्षण बढ़ा और उन्हें लगा कि उनके हाथ ज्ञान का एक नया भंडार लगा है। नई दुनिया की खोज की तरह ज्ञान की इस अद्भुत दुनिया की खोज ने भी युरोपीय देशो में हलचल मचा दी थी। ऐसी स्थिति में प्राच्यविद्या के इस समुद्र-मथन में भारत के बुद्धिजीवियों का भाग लेना स्वाभाविक था। किंतु यह काम साधारण बुद्धिजीवियों के बस का नहीं था। इसके लिए ज़रूरत थी ऐसी प्रतिभाओं की, जिनमें प्राच्य भाषाओं के साथ, युरोपीय भाषाओं का भी समुचित ज्ञान हो और साथ ही आधुनिक भाषा के माध्यम से जो जनसाधारण के साथ इस महत्त्वपूर्ण विषय पर संवाद स्थापित कर सकते थे। गुलेरी जी ऐसी ही प्रतिभा थे इसलिए प्राच्य-विद्याओं के गूढ़ विषयों को साधारण पाठक तक ले जाने का दायित्व मुख्य रूप से उनके कंधों पर पड़ा।

प्राच्यविद्या से संबंधित उनके निबंधों की विशेषता है कि इनमें सत्य की खोज का प्रयास निहित है। गुलेरी जी पूर्वाग्रहों को लेकर नहीं चलते थे। सनातनी होते हुए वे स्वामी दयानंद की विचारधारा का आँख मूंदकर खंडन नही करते थे। वैदिक कथाओं में रूपक है या इतिहास, यह उस समय बडे विवाद का विषय रहा होगा। स्वामी दयानंद वैदिक कथाओं में इतिहास खोजने के पक्ष में नहीं थे किंतु युरोपीय विद्वान उनमें इतिहास देखते थे। भारत में भी ऐसे कई विद्वान थे, जो

वैदिक कथाओं में आये पात्रों को वास्तविक मानने के पक्ष में थे यद्यपि वे उनके रूप-कार्थ को भी उतना ही महत्त्व देते थे। काशी मे स्वामी दयानंद के साथ हुए शास्त्रार्थ का वर्णन अपनी संस्कृत पत्रिका में करनेवाले सत्यव्रत सामश्रमी भी कहते है कि वे स्वामी दयानद की इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे कि वेदों में इतिहास नहीं है।

गुलेरी जी ने वैदिक कथाओं को अधिकतर रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है। उर्वशी पुरुरवा की कथा को वे ऊषा और सविता के मिलन-विछोह की वैज्ञानिक एवं कवित्वपूर्ण कथा बताते हैं। इसी तरह 'पृथुवैन्य का अभिषेक' निबंध में वे वैन्य की उत्पत्ति का इतिहास बताते हुए कहते हैं—

> "सुनीति के पुत्र, विधर्मा, वेन को ऋषियों ने कुशों से मार-मारकर मार डाला। फिर उसकी जाँघ को मथने से उसमें से एक विकृत, अशुद्ध, ठिगना जले हुए कुंदे का-सा लाल आँखों और काले केशों वाला पुरुष निकला, जिसे ऋषियों ने कहा "निषीथ (=बैठ जा)" उसमें से निषाद, भील म्लेच्छ वनचारी उत्पन्न हुए हैं। यों गर्हित नीचे के भाग की छाँट निकाल ऋषियों ने उस मरे हुए राजा के दाहिने हाथ को मंथन किया। अब हम यह नहीं कह सकते कि पुराणों में यह रूपक है या सच्चा वर्णन। यदि रूपक है तो इसका अर्थ आजकल की भाषा मे यह है कि ऋषियों ने नीच प्रवृत्तियों को निकाल बाहर किया और मृतराजा की बाँह अर्थात् बराबर के मनुष्यो से मंथन (छान-बीन) करके एक इंद्र के समान रूपवान पुरुष निकला। कवच पहने, तलवार बाँधे, धनुष-बाण धारे, वेद-वेदांग धनुर्वेद का वह पारगामी नरोत्तम था। सारी दंडनीति उसमें आश्रित थी। वह था वैन्य (=वेन का पुत्र)।"

इसी प्रकार शुनःशेप की कहानी का वर्णन करने के बाद वे उसके रूपक को स्पष्ट करते हुए अंत में कहते हैं:—

> "यह कहानी दिखाती है कि दीनता और भूख मनुष्य को किस नीच कर्म करने तक पहुँचा देती है, कैसे परिश्रम से खोजनेवाले को सबकुछ मिलता है। ······राजा के अभिषेक के पीछे इस कथा को सुनाने का तात्पर्य यह है कि वह हरिश्चंद्र की-सी प्रतिज्ञा कभी न करे, आपत्ति आने पर भी निराश न हो, रोहित की तरह घूमता रहे और अपने सुराज्य से ऐसा अवसर न दे कि लोग भूख के मारे अजीगर्त के-से नर पिशाच बन जाएँ।"

'वाजपेय', 'राजसूय', 'अश्वमेध', आदि निबंधों में वे इन अनुष्ठानों की विधि को स्पष्ट करते हैं। 'विक्रमोर्वशी की मूलकथा' निबंध में वेदों से लेकर विविध पुराणों में आए प्रसंगों का वे वर्णन करते हैं और इस कथा के विकास पँर प्रकाश डालते है। इस कथा को लेकर आगे जो काव्य-रचना हुई है, उसके आस्वादन के लिए यह निबंध बहुत उपयोगी है। च्यवन और सुकन्या की कहानी भी एक

ऐसी ही कहानी है, जिसे आगे चलकर पुराणों ने पातिव्रत और पितृभक्ति के आदर्श के रूप में विन्यस्त किया गया।

इतिहास और पुरातत्त्व विषयक निबंधों में गुलेरी जी की प्रतिभा का निखार अपने चरमोत्कर्ष पर दीखता है। 'शैशुनाक की मूर्तियाँ' निबंध इसका एक उदाहरण है। गुलेरी जी सौ साल पहले पटना के दक्षिण में नदी के किनारे, बुकानन महाशय को मिली दो मूर्तियों से इस निबंध को शुरू करते हैं फिर इन मूर्तियों तथा इस प्रकार की खुदाई से प्राप्त दुर्लभ मूर्तियों का इतिहास प्रस्तुत करते हुए और काशीप्रसाद जायसवाल आदि विभिन्न विद्वानों के मतों की परीक्षा करते हुए इतिहास के इस गूढ़ रहस्य पर नया प्रकाश डालते है। इस निबंध में प्राचीन कला की बारीकियों का सूक्ष्म विवरण, प्राचीन लिपियों का विश्लेषण और इतिहास के विविध साक्ष्यों का संयोजन गुलेरी जी के प्रकाण्ड पांडित्य को सिद्ध करता है। इस लेख को लिखने से पहले वे 'देवकुल' नाम का निबंध भी लिख चुके थे, जिसमें उन्होने 'हर्षचरित' में महाकवि बाण द्वारा भास के संबंध में लिखे एक श्लोक को आधार मानकर त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित संस्कृत के 'प्रतिमा नाटक' के प्रसंगों का विश्लेषण किया और यह सिद्ध किया है कि प्राचीन काल में जिस प्रकार देवताओं के लिए मंदिर बनाए जाते थे उसी तरह पितरों की मूर्तियाँ देवकुलों में सुरक्षित रखी जाती थीं। इस प्रथा के अवशेष आज भी देहरियों या देऊलियों के रूप में राजस्थान, काँगड़ा आदि मे पाए जाते है। शैशुनाक मूर्तियों को वे देवकुलों के अवशेष सिद्ध करते हैं। ये दोनों निबंध पाठकों को पुरातत्त्व संबंधी विशिष्ट जानकारियों की अतल गहराइयों मे ले जाकर एक नया प्रकाश देते हैं।

'खसों के हाथ में ध्रुवस्वामिनी' और 'अवंतिसुंदरी' लेख भी इतिहास पर नवीन प्रकाश डालने के कारण बहुत रोचक एव उपयोगी हैं। पहले निबंध ने समकालीन लेखकों मे काफ़ी उत्सुकता जगाई, जिसका प्रमाण यह है कि आगे चलकर जयशंकर प्रसाद ने इस घटना पर अपना प्रसिद्ध नाटक "ध्रुवस्वामिनी" लिखा।

'राजाओं की नीयत से बरकत' 'पुरानी हिंदी' 'पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घस् यस् = ज = (z)' 'न्यायघंटा' 'पंचमहाशब्द' 'उलूलुध्वनि = हुर्रा,' 'सिंहल द्वीप में महाकवि कालिदास का समाधिस्थान' 'देवानांप्रिय' 'बेलावित्त' आदि निबंध भी इतिहास के नये रहस्यों से पाठक को परिचित करते हैं। ये निबंध कहानी की तरह रोचक हैं। बीच-बीच में हास-परिहास की फुहारें छूटती रहती हैं। गुलेरी जी कभी भारतीयों के अंग्रेजी के माध्यम से अर्जित संस्कृत ज्ञान पर मधुर कटाक्ष करते है कभी पश्चिमी विद्वानों के अधूरे ज्ञान पर आधारित निष्कर्षों की धज्जियाँ उड़ाते हैं।' 'जालहंस की सुभाषित मुक्तावली' में वे एक भारतीय विद्वान की खोज पर व्यंग्य करते है, जिसने जल्हण का जालहंस बना दिया था

क्योंकि उसने रोमन लिपि में jalhans's पढ़ लिया था। 'बौद्धों के काल में भारतवर्ष' निबंध में वे प्रोफेसर राइस डेविस के मत का खंडन करते है और अंत में निकर्ष निकालते हैं :—

"उन्नतिमत पाश्चात्य अपनी दशा को और देशों के इतिहास में पढ़ने का उद्योग करते हैं। यूरोपीय क्लर्जी ने राजाओं पर पीछे प्रभाव डाला और उनके और राजाओं के बीच इस बात को लेकर लड़ाइयाँ हुईं, यही बात भारत वर्ष में ढूंढ़ना चाहते है। अपनी छठी शताब्दी से बढ़कर सभ्यता यहाँ नहीं दिखाना चाहते और ब्राह्मण तो गालियाँ देने को हैं ही।"

'संगीत' निबंध में (जो उनके भाषण का एक अंश है)। वे उन पोंगापंथियों पर कटाक्ष करते हैं, जो संगीत आदि कलाओं की निंदा करते हैं वे कहते है:—

"हिंदू शास्त्रकारों को कहीं पर संगीत, वाद्य आदि को गर्हित ठहराने-वाला कहा जाता है, किंतु सब वाक्यों की मीमांसा करने पर सारांश यही निकला है कि असत् गीत, वाद्यादिक की निंदा ही से वहाँ तात्पर्य है, विनोद और उच्च आनंदमय, अह्लादप्रधान संगीत की निंदा से नहीं। नहीं तो पतंजलि यह काहे को कहते कि "ये वीणायां गायंति ते धन सनय:" और काहे को पवित्र यज्ञों में वीणा गायकों के मान और सम्मान की बातें जगह-जगह सुनाई पड़तीं ?"

"मेरे वक्तव्य का दूसरा अंश यह है कि हिंदू और विशेषत: उच्च आर्य जातियों के प्रतिनिधि यदि संगीत की निंदा और अपमान करते हैं तो वे उस मार्ग से दूर जा रहे हैं, जिसपर उनके "पूर्वपितर:" चले थे। यही नहीं, वे पितरों के कर्मों के विरुद्ध चल रहे हैं क्योंकि वे गवैयों के बेटे-पोते हैं—उनके बहुत पुराने पुरखा गवैये थे।"

इसके बाद वे सामगान से लेकर रामायण के कुशीलव तक का इतिहास देते हैं और कृष्णभक्ति से होते हुए आधुनिक काल तक संगीत की परंपरा के साक्ष्यों को प्रस्तुत करते हैं।

प्राचीन साहित्य की खोज के संबंध में गुलेरी जी का निबंध 'संस्कृत की टिपरारी' बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसमें वे युद्धभूमि में सैनिकों द्वारा गाए जानेवाले एक अंग्रेजी लोकगीत का विश्लेषण करते हैं। यह गीत आयरलैंड में टिपरारी नामक गाँव के पैडी नामक एक युवक का चित्र प्रस्तुत करता है, जिसे लंदन की तड़क-भड़क पसंद नहीं आती है और वह गाँव की ओर वहाँ प्रतीक्षा कर रही अपनी प्रेमिका की याद करता है। युद्धभूमि में गाँव और प्रेमिका के लिए जगे मोह की सार्थक अभिव्यक्ति के कारण यह गीत कई भाषाओं में अनूदित हुआ। गुलेरी जी इसी तरह का प्रसंग महाभारत म खोजते हैं। महाभारत में आई वाह्लीकों की कथा का भाव लगभग वही है, जो अंग्रेजी के टिपरारी गीत का है। इसमें एक

वाह्लीक कुरु प्रदेश में आकर अपने देश की स्त्रियों की याद करता है :—

> "हाय, अवश्य वह वृहदाकार और गौर शरीरवाली स्त्री बारीक पश्मीना पहने हुए, मुझ कुरु प्रदेश प्रवासी वाह्लीक की याद करती हुई सो रही होगी।...कब मैं सतलज को पार करके और सुंदर रावी को लाँघकर स्वदेश पहुँचूंगा और सुंदर, मोटी जाँघों वाली, मनःशिला की-सी उज्ज्वल, कनखियोंवाली गोरी, सदा मोड़ के लटके से बोलने वाली, कंबल और मृगचर्म पहने हुए, मेरे वियोग में रोती प्रियदर्शन स्त्रियों को देखूँगा। (*इतने में उसे अपनी प्यारी जन्मभूमि का स्मरण हो आया*) ढोल, नगारे, शंख, मर्दल बजाते जाएँगे और मतवाले होकर हम गधों, ऊँटों और खच्चरों पर चढ़े-चढ़े चले जायेंगे। वहाँ शमी, पीलू और करील के जंगल हैं। हमारे लिए मार्ग बड़ा सुखदायक है। हम वहाँ मट्ठे के साथ पूए और सत्तू के लड्डू खाते जायेंगे और राह चलते मुसाफ़िरों के कपड़े तक उतार कर उन्हें खूब लूटेंगे, मारेंगे।"

महाभारत के इस मार्मिक वर्णन को देने के बाद गुलेरी जी उस लोक-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कहते हैं :

> "*कितना भावमय वर्णन है। अर्धसभ्य जाति के देश-प्रेम, भोजन-विहार और व्यवसाय का कितना अच्छा चित्र है। इस गीत की अंतिम दो कड़ियों को गाते समय प्रवासी वाह्लीकों की आँखो में वही ज्योति आ जाती होगी जो डूँगजी जवाहरजी की धमाल सुनकर शेखावटी के सफ़ेद दाढ़ीवाले ठाकुरों की आँखों में अब भी आ जाती है।*"

भाषा-विज्ञान और इतिहास में पुरातत्त्व की खोज का परस्पर अविच्छिन्न संबंध रहा है। दोनों विधाएँ एक-दूसरे की पूरक रही हैं, इसलिए गुलेरी जी के भाषा-विज्ञान संबंधी निबंधों का अध्ययन, इतिहास, पुरातत्त्व के साथ किया जाना चाहिए। इस विषय पर उनका सबसे प्रसिद्ध निबंध 'पुरानी हिंदी' है। इसे प्रबंध कहना ज्यादा ठीक होगा। इसे उन्होंने उत्तरकालीन अपभ्रंश की रचनाओं के नमूनों के साथ नागरी प्रचारिणी पत्रिका के लिए लेखमाला के रूप में लिखा था। बाद में, वह इसी शीर्षक की पुस्तक के रूप में अलग से प्रकाशित हुआ।

इस निबंध में गुलेरी जी ने भाषाओं के विकास के संबंध में कई नयी मान्यताएँ प्रस्तुत कीं। उदाहरण के लिए उन्होंने संस्कृत को मूलभाषा न मानकर मूलभाषा की एक शाखा माना। वे कहते हैं—

> "वह (संस्कृत) मँजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हज़ार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस क्रृत से वह संस्कृत हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की लहर है, नरौने के बांध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, क़िनारों पर हरियाली और वृक्ष है, प्रवाह नियमित है। किन-किन टेढ़े-मेढ़े किनारोंवाली,

छोटी-बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन भाषा-प्रेमियों ने नदियों का प्रवाह अविच्छिन्न रखने के लिए कैसा कुछ आंदोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम नहीं जान सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते असंस्कृत या स्वाभाविक प्राकृत नदियो को भूल गए।···"

संस्कृत नाटकों की प्राकृत पर टिप्पणी करते हुए गुलेरी जी इस निबंध में लिखते हैं :

"संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नक़ली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत व्याकरण नियमों से गढ़ी हुई है। वह संस्कृत मुहावरों का नियमानुसार किया हुआ रूपांतरण है, प्राकृत भाषा नहीं।"

हिंदी के विकास के संबंध में अपने विचारों का निष्कर्ष देते हुए वे कहते हैं :

"हिंदी काव्य भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में मिलता है।···देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश ही पुरानी हिंदी की काव्य भाषा है।"

इस निबंध के अतिरिक्त भाषा विज्ञान पर उनके और भी कई लघु निबंध हैं। इनमें 'अमंगल के स्थान पर मंगल शब्द' नामक निबंध भाषा के गहन रहस्यों के साथ-साथ लोक-साहित्य और भाषा-विज्ञान के परस्पर साहचर्य पर भी प्रकाश डालता है। मृत्यु आदि अमंगल घटनाओं के वर्णन में जनसाधारण किस प्रकार मंगल शब्दों का प्रयोग करता है और इस प्रवृत्ति के कारण भाषा में कैसे-कैसे नये भंगिमा वाले शब्द आते है, इसका वर्णन लालित्यपूर्ण भी हो गया है और इसलिए कुछ विद्वान् इसे गुलेरी जी के ललित निबंधों में शामिल करते हैं। एक परिच्छेद में इस निबंध के लालित्य की झलक इस प्रकार है :

"अमंगल, कटु या दुर्भावसूचक शब्दों के लिए कोमल पदों के प्रयोग के विषय में भी कुछ कहना अनुचित न होगा। वेश्या को 'सदा सुहागिन', व्यभिचारिणी को 'महासती', अमंगलमुखी को 'भद्रमुखी', उल्लू को 'रात का राजा' कहने की चाल पड़ गई है। महत् शब्द के प्रयोग से हड्डी को महाशंख, चर्बी को महातैल, मनुष्य मांस या गोमांस को महामांस, यम को महावैद्य, यमलोक के मार्ग को महामार्ग, और मृत्यु को महानिद्रा के नाम से उल्लेख किया जाता है।"

गुलेरी जी के निबंधों में भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व के विषय किस तरह परस्पर गुँथे हुए हैं, इसका उदाहरण उनके 'यूनानी प्राकृत' नामक निबंध में मिलता है। इस निबंध में गुलेरी जी बेसपुर (विदिशा) में मिले गरुड़ध्वज के

संबंध में डॉ. फोजल, पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा और डॉ. सुखथणकर के लेखों के विवेचन प्रस्तुत करते हुए, इसकी भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत करते है और निष्कर्ष देते हैं :

> "हम इस बात से सहमत है कि इस लेख की प्राकृत भाषा हेलियोडोरस की ही रचना है। पंडिताऊ हिंदी और बाबू इंगलिश की तरह यह यूनानी प्राकृत है। जिसे जिस भाषा के मुहाविरे का अभ्यास होता है, वह दूसरी भाषा लिखते समय जाने अनजाने उसी का अनुसरण करने लगता है। बंगला मे 'रौद्र' धूप को कहते हैं, एक बंगाली कवि का उद्‌भट संस्कृत श्लोक है, जिसमें धूप के अर्थ में रौद्र ही काम मे लाया गया है, जो संस्कृत में दुर्लभ है।"

सामयिक समस्याओ और स्थितियों पर लिखे गए निबंधों में गुलेरी जी सतत् जागरूक मन से आस पास की घटनाओं और समस्याओं पर विचार व्यक्त करते हैं। इनमें से अधिकांश निबंध पत्रकार के नाते 'समालोचक' के लिए लिखे गए थे। स्वतंत्रता आंदोलन की गतिविधियों से वे अलग-अलग नही रहे। कांग्रेस के अधिवेशन उन दिनों बड़े दिन की छुट्टियों में पिकनिक मनाने के लिए इकट्ठे हुए लोगों के उत्सव जैसे होते थे। गुलेरी जी ने इंडियन नेशनल कांग्रेस का वर्णन करते हुए ऋग्वेद के मंडूक सूक्त का उदाहरण देकर तत्कालीन कांग्रेस का रूपक इस प्रकार खींचा है :

> "कई शताब्दियों की अज्ञान और अत्याचारों की गर्मी से झुलसे हुए, ब्रिटिश राज्य की वृष्टि से अपनी सूखी खाल को पूरा करके, वर्ष भर सो रहने पर भी हजारों कांफ्रेंसों की ऋतु में उस मेघ का स्तोत्र पाठ करने लगते हैं; जिसने रंग-बिरंगे, भिन्न-भिन्न आवाजों वाले उनको (मंडूकों को) एक नाम दिया है। चाहते हुए, प्यासे इन मेंढकों का अखखल शब्द, जो वसिष्ठ (ह्यूम) का अनुमोदन करता है, पर्जन्य स्तुति ही है। देवताओं के बनाए ऋतुक्रम को ये ही रखते हैं क्योंकि लोगों को बड़े दिन की छुट्टी और नये वर्ष का आरंभ इन्हीं द्वारा जान पड़ते हैं। इनमें से कई अब भी प्रकट नहीं होते। पर्जन्य की स्तुति करके ये ही वृष्टि के हेतु होते हैं। तथास्तु।"

बंगभंग के समय 'समालोचक' में लिखा गया उनका लंबा लेख एक सामयिक निबंध है, जिसमें गुलेरी जी का देशप्रेम, विदेशी शासन के प्रति उनके मन का क्षोभ तो प्रकट होता ही है, भाषा के अभिनव प्रयोग के कारण भी यह निबंध हिंदी की स्थायी निधि बन गया है। एक क्षणिक प्रभाव पैदा करनेवाले पत्रकारिता के विषय कुशल लेखनी के स्पर्श से किस तरह स्थायी महत्त्व के बन जाते हैं, उसका यह अच्छा उदाहरण है। 'बंग का भंग' शीर्षक इस लेख को लेखक इस प्रकार शुरू करता है :

> "गत मास भारतवर्ष में घटनाओं का चक्र इस तेजी से घूम गया है कि देखनेवालों को मुंह बा कर और सिर पर हाथ रखकर उसका स्मरण करने

में भी कठिनाई पड़ती है। क्या था, क्या हो गया और क्या होगा, इसीकी जाँच करने में ऐतिहासिक कभी सही और कभी गलत अंदाज़ लगाते हैं…"

लॉर्ड कर्जन के अधिकारों पर अंकुश लगाने के लिए उस समय सेनापति के पद को नये अधिकार देकर वायसराय की सत्ता से पृथक् करने के प्रयास हुए थे। इस पर टिप्पणी करते हुए गुलेरी जी लिखते हैं :

> "यद्यपि सेनापति के नये अधिकार और सेना के नये प्रबंध से सारा अधिकार और प्रताप वायसराय से प्रधान सेनापति में आ गया है और 'मुल्की लाट' केवल पति 'जंगी लाट' के बिल चुकानेवाले रह गए हैं, जिससे भारत-वासियों की लचकी पीठ सेना के बोझ से बहुत शीघ्र टूट जा सकती है, तो भी भारतवासी इस विषय में उदासीन थे। तुलसीदास जी के शब्दों में "कोइ नृप होहिं हमें का हानी, चेरि छाँडि न होउब रानी" उन्हें सिविल एकतंत्र से मिलिटरी एकतंत्र केवल एक अंश ही अधिक अन्यायी जान पड़ा। सिविल एकतंत्र कौन-सा उन्हें दूध देता था ? दूसरे जिस जाति को सदा हवलदार तक बनकर रह जाना है और जो कभी सेना के ऊँचे पदों की आशा नहीं रखती, उसे सेना के प्रबंध से क्या ? तीसरे उनकी दृष्टि में सेनापति और वायसराय का संगर दो लंगर बाँधे पहलवानों की कुश्ती या मुर्गों की लड़ाई थी। लोग यही जानते थे कि सेर को सवा सेर मिल गया, लड़ाई हो रही है…"

पहलवानों की लडाई का विस्तार से वर्णन करने के बाद वे अंत में कर्जन द्वारा बंगभंग की घोषणा पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं और लिखते है :

> "चाहे खुशामदी लोग श्रीमान को विदाई के तार दें और बंबई ही नहीं अदन तक उन्हें पहुँचाने जावें परन्तु देश का मत श्रीमान के विषय में यही है कि श्रीमान को शीघ्र विदाई न मिल गई और उनकी सर्वतः पाणिपाद शक्ति बंगाल के भेदन से बाज न आई। पुराणों में जैसे पृथ्वी और स्वर्ग के बीच में लटकते त्रिशंकु की राल कर्मनाशा से अंग को अपवित्र कर गई, वैसे ही श्रीमान ने भी एक सितंबर को बंग विच्छेद की घोषणा कर दी।"

राजनीति के साथ-साथ गुलेरी जी ने तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं पर भी गंभीर लेख लिखे। **'खेल भी शिक्षा है'** यह निबंध उनकी शिक्षा संबंधी दृष्टि का तथा विस्तृत अध्ययन का परिचय देता है। निबंध में गुलेरी जी विकासवाद के सिद्धांतों की रोशनी में बालक के सहज विकास के लिए खेल को अनिवार्य गतिविधि मानते हैं। शिक्षा के संबंध में क्रांतिकारी विचारों के कारण यह लेख आज भी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इसी तरह का एक लेख **'डिनामिनेशनल कॉलेज'** शीर्षक से है, जो साम्राज्यवादी शिक्षा-प्रणाली के दोषों

की ओर हमारा ध्यान खींचता है और आज भी पब्लिक स्कूलों के रूप में जो षड्यंत्र चल रहा है, उस पर प्रकाश डालता है। इसी प्रकार 'वंशच्छेद' निबंध में जनसंख्या वृद्धि की समस्या का वैज्ञानिक तथ्यों के संदर्भ में विवेचन किया गया है। पश्चिमी देशों में नस्ल के सुधार के लिए अपनाए जा रहे विविध उपायों पर यह लेख तीखी टिप्पणी करता है।

गुलेरीजी के सामयिक निबंधों में '**कछुआ धरम**' और '**मारेसि मोहिं कुठाऊँ**' निबंध बहुत प्रसिद्ध है। इसका कारण है कि इनमें साहित्य का लालित्य, हास्य-व्यंग्य का पुट सर्वाधिक है और गुलेरी जी की शैली के ये बहुत अच्छा नमूने हैं। '**कछुआ धरम**' में भारतवासियों की उस प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया गया है, जिसके अधीन वे किसी भी कष्ट से बचने के प्रयास में कछुए की तरह अपने में सिमट जाने के आदी रहे हैं। 'मारेसि मोहिं कुठाऊँ' में वे आर्यसमाजी प्रचारकों पर तीखा प्रहार करते हैं कि वे भारतीय संस्कृति के अनेक शब्दों के अर्थ का अनर्थ करके हमसे हमारा सर्वस्व छीन रहे हैं और हमें ऐसे ग़लत जगह मार रहे हैं जैसे तुलसीदास की कैकेयी ने दशरथ को मारा था। उनके व्यंग्य का पैनापन निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है :

> "बकौल शेक्सपीयर के जो मेरा धन छीनता है, वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है, वह सितम ढाता है। आर्य समाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। औरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, उन्होंने अच्छे-अच्छे शब्द छीन लिये, इसी से कहते हैं 'मारेसि मोहि कुठाऊँ।' अच्छे-अच्छे पद तो इस सफ़ाई से ले लिये हैं कि इस पुरानी दुकान का दिवाला निकल गया। लेने के देने पड़ गए।"

समकालीन व्यक्तियों पर लिखे गए निबंधों में '**राव संसारचंद्र सेन**' '**धनीधि समर्थदान जी**', '**महामहोपाध्याय कविराज मुरारीदान जी**', '**आचार्य सत्यव्रत सामाश्रमी**' और '**डॉ. महेन्द्रलाल सरकार**' निबंध बहुत प्रसिद्ध हैं और इस बात का उदाहरण हैं कि एक प्रबुद्ध लेखक अपने समय की महान विभूतियों के संबंध में किस प्रकार लिख सकता है।

गुलेरी जी के साहित्य का एक रूप छोटी-छोटी टिप्पणियाँ हैं। विविध विषयों पर समय-समय में लिखी गई इन टिप्पणियो में भाषा का आकर्षण तो है ही, विचारों के गुंफन तथा अत्यंत सक्रिय एवं सृजनशील मन की प्रतिक्रिया होने के कारण उनका महत्त्व वैसा ही है जैसा मुक्तक काव्य के पदों का होता है। हर टिप्पणी अपने में स्वतंत्र और पूर्ण है। निबध साहित्य की एक कटी-छँटी परिभाषा को लेकर चलनेवालों के लिए इन टिप्पणियों का शायद कोई महत्त्व नही होगा क्योंकि ये टिप्पणियाँ साहित्य के किसी साँचे में नहीं आती हैं। किंतु हम इन्हें

मुक्तक काव्य के वजन पर मुक्तक गद्य मान सकते हैं। उदाहरण के लिए 'क्रियाहीन हिंदी' शीर्षक की टिप्पणी इस प्रकार है :

> "हिंदी में धातुओं की बड़ी कमी है। क्रियापदों का दारिद्र्य आता जाता है। धातु से बने हुए नाम के साथ करना या होना जोड़कर क्रिया का काम निकालते हैं। होते-होने, करना या होना, यही दो धातु हिंदी में रह जाएँगे। एक तो प्राकृत और हिंदी की गठन से ही हिंदी (और उसकी बहनेली उर्दू) बहुत से धातु खो चुकी और धातुज नामों के आगे 'कर' या 'हो' जोड़कर काम चलाकर तुलसीदास और सूरदास का प्रचुर शब्दकोश भी खाली हो चला। अब हम परमेश्वर को भजते नहीं, स्मरण करते हैं, बसते नहीं वास करते हैं, जाचते नहीं, याचना करते हैं; प्रार्थते नहीं, प्रार्थना करते हैं। तजते नहीं, त्याग करते हैं, वरनते नहीं, वर्णन करते हैं; इत्यादि, इत्यादि। यों सांख्य के पुरुषों की तरह या हिंदुस्तान के अमीरजादों की तरह हिंदी भी क्रियाहीन होती जा रही है।"

उपर्युक्त टिप्पणी अपने में स्वतंत्र निबंध है और इसे मुक्तक गद्य रचना माना जा सकता है। कई टिप्पणियाँ तो काफ़ी लंबी हैं और उन्हें लघु निबंध भी कहा जा सकता है। कुछ बहुत छोटी होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं।

अपने समय की गतिविधियों पर गुलेरी जी द्वारा दी गई छोटी-छोटी टिप्पणियों का आज ऐतिहासिक महत्त्व भी हो गया है। प्रयाग से निकलनेवाली पत्रिका '**प्रयाग समाचार**' की दृष्टि पर टिप्पणी करते हुए गुलेरी जी '**समालोचक**' में लिखते हैं—

> "बड़े हर्ष की बात है कि 'प्रयाग समाचार' में दत्त महोदय के इतिहास पर लिखा जाने लगा है। किंतु उसकी परिपाटी निंद्य है। जिन बातों में दस कॉलम खर्च किए गए हैं, वो दो कॉलम में लिखी जातीं तो अधिक बलवती होतीं। लेखक को यह तो मालूम है कि गाली देने का नाम···युक्ति या तर्क नहीं है फिर जगह-जगह रमेश बाबू और काशी की सभा को अयुक्त वचनों का संपुट क्यों लगाया जाता है? अंग्रेजी में उस ग्रंथ के होने से धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ तो बेचारी हिंदी ने क्या पाप किया है? सभा की बहुत निंदा हो रही है, उसे सम्हलना चाहिए। घर क्या बना, वह मानो घोड़े बेचकर सो गई।"

इसी तरह की एक टिप्पणी ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद पर है, जो हमारे लिए आज ऐतिहासिक महत्त्व की है। '**समालोचक**' में छपी यह टिप्पणी इस प्रकार है—

> "काशी को ब्रजभाषा के पक्षपातियों और खड़ी बोली के विरोधियों का अड्डा कहा जाता है, वह ठीक नहीं है···। डायरियों और आंदोलनों के छपने

और खून लगाकर शहीद बनने से काम न होगा, यह होगा नये कवियों के जन्मने से। कोई यह न जाने कि मैं खड़ी बोली की कविता का विरोधी हूँ पर मैं, उसका समर्थक ही नहीं बल्कि लीक पीटनेवाले ब्रजभाषा कवियों का निंदक भी हूँ। बाबू अयोध्याप्रसाद के यत्न, उद्योग, परिश्रम, व्यय, अध्यवसाय और हिंदी प्रीति सहायता की स्तुति करता हुआ मैं उन्हें "त्वमर्कस्त्वं सोम" नहीं कह सकता और न बिहारियों का उन्हें खून लगाकर शहीद बनाना देख सकता हूँ..."

हिंदी में पुस्तक व्यवसाय को लेकर आज बहुत चर्चा हो रही है। इस प्रकार की चर्चा गुलेरी जी के समय में भी चलती होगी। इस विषय मे उनकी एक टिप्पणी यह दिखाती है कि पुस्तक व्यवसाय में आज हमें जो त्रुटियाँ नजर आती हैं, उनकी जड़ें काफ़ी पुरानी हैं। गुलेरी जी लिखते हैं—

"हिंदी भाषा में पुस्तकों की संख्या बढ़ती जाती है, परंतु उपयोगी पुस्तकें बहुत कम प्रकाशित होती हैं। प्रकाशक दो प्रकार के हैं—एक व्यापारी, दूसरे नाम चाहनेवाले। व्यापारी उन्हीं पुस्तकों का प्रकाशन करता है, जिनकी बिक्री अधिक देखता है अतः उसके द्वारा अच्छी पुस्तकों का छपवाया जाना असंभव अथवा दुर्घट है क्योंकि उन्हें चाहनेवाले कम हैं। नाम चाहनेवालों द्वारा प्रकाशित पुस्तकें प्रायः अशुद्ध और भाषा को विकृत करनेवाली होती हैं।"

पत्र-पत्रिकाओं में छपा गुलेरी जी का समस्त साहित्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है। आशा है, जिज्ञासु शोधार्थियों के प्रयास से उनका और साहित्य भी शीघ्र ही प्रकाश में आएगा और हिंदी भाषा को और समृद्धि प्रदान करेगा।

कवि गुलेरी

अपने समय की हर बौद्धिक गतिविधि के साथ जुड़े रहने वाले गुलेरी जी यदि कविता से बिल्कुल उदासीन रहते तो यह अचरज की बात होती। कविता उस समय एक सशक्त साहित्यिक विधा थी किंतु ब्रजभाषा की पारंपरिक कविता और खड़ी बोली मे लिखी जा रही कविता का द्वंद्व जोरों पर चल रहा था। अधिकतर ब्रजभाषा में जो कविता लिखी जा रही थी, उसमें रीतिकालीन या भक्तिकालीन कविता की अनुगूंज थी किंतु नये सामयिक विषयों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए कवि खड़ी बोली को अपना रहे थे। गुलेरी जी ने ब्रजभाषा के सम्यक् ज्ञान के बावजूद अधिकतर कविता के लिए खड़ी बोली को अपनाया क्योंकि उन्हें रीतिकालीन कवियों की लीक पर चलना प्रिय नही था। उनकी कविताओं का एक संग्रह (डॉ. विद्याधर शर्मा के संपादकत्व में चिन्मय प्रकाशन, जयपुर से) प्रकाशित हुआ है, जिसमें गुलेरी जी की निम्नलिखित कविताएँ दी गई हैं:—

1. एशिया की विजयादशमी (जापान का सीमोल्लंघन)
2. आहिताग्निका
3. झुकी कमान
4. स्वागत (युवराज का स्वागत)
5. रवि
6. कुसुमांजलि
7. बैनॅकबर्न

'एशिया की विजया दशमी' कविता रूस पर जापान की विजय के उपलक्ष्य में लिखी गई है और पश्चिम पर पूर्व की विजय के उल्लास को व्यक्त करती है। उस समय विदेशी शासन के विरुद्ध भारतवासियों की भावनाएँ अधिकतर परोक्ष रूप में ही व्यक्त होती थीं। इस कविता के पीछे भी विदेशी शासन के विरुद्ध भारतवासियों में स्वाभिमान जगाने का भाव निहित है।

आहिताग्निका कविता भी देश प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है। यह कविता रवींद्रनाथ ठाकुर की भानजी श्रीमती सरला देवी को 'आहिताग्निका'

को पढ़कर लिखी गई थी। सरला देवी बंगला की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'भारती' की संपादिका थी। उन्होंने देश-सेवा की प्रचंड ज्योति को प्रज्ज्वलित रखने के कठिन व्रत को ग्रहण किया था। 'झुकी कमान' कविता एफ. डी. हरमेन्स की अंग्रेजी कविता के आधार पर किंतु परिवर्द्धित रूप में लिखी गई है। पं. झाबरमल्ल शर्मा इस कविता पर यह टिप्पणी लिखते हैं :—

"प्राचीन काल में भारतीय राजा-महाराजा देश पर आई विपत्ति के समय अपने दरबार में वीर सामंतों के सामने पान का बीड़ा घुमाते थे और प्रस्ताव अभियान का नेता बननेवाला वह बीड़ा उठा लेता था।···अंग्रेजी मे ऐसी परम्परा बताई जाती है कि ऐसे अवसरों पर वीर योद्धाओं के पास झुकी कमान भेजी जाती थी और उसे स्वीकार करनेवाले स्वदेशाभिमानी उस अभियान में शामिल होते थे।"

इस तथ्य पर एक टिप्पणी में यह जोड़ा गया है कि तलवार की म्यान के साथ बँधी डोरी को, जिसका एक भाग मूठ से संलग्न होता था, बीड़ा भी कहते थे अतः यह भी मान्यता है कि राजा लोग बीड़ेवाली तलवार को ही दरबार में प्रत्येक सामंत के सामने भिजवाते थे।

इस प्रकार 'झुकी कमान' कविता में गुलेरी जी ने अंग्रेजी की कविता के आधार पर देश-प्रेम की भावना को जगाने का प्रयत्न किया है। इसी तरह की कविता 'बैनॉकबर्न' है, जो राबर्ट बर्न्स की कविता का अनुवाद है और स्काटलैंड की सेना द्वारा एडवर्ड द्वितीय पर प्राप्त की गई विजय का स्मरण दिलाती है। यह कविता भी प्रबल देशभक्ति की भावना के कारण समयानुकूल थी।

युवराज का स्वागत:—कविता प्रिंस जार्ज की भारत यात्रा के समय लिखी गई थी। इसमें युवराज को भारत की ग़रीबी और लाचारी से खुले शब्दों में अवगत कराया गया है। सरकार की तरफ़ से लगाये गये अनेक प्रतिबंधों के बावजूद गुलेरी जी सरकारी नौकरी में रहते हुए यह कविता लिख पाये, यह निश्चय ही श्लाघ्य है। प्लेग और अकाल की यातना का करुण चित्र इस कविता में इस प्रकार दिया गया है:—

"तो भी प्लेग छिपाय, काल ढक के, घोटा असंतोष को
माँगे शाल ढका प्रसन्न बनके कंगाल कंकाल को
आँसू पोंछ कहूँ सुहास्य मुख से, आओ पधारो यहाँ
लाखों मंगल सर्वमंगल करे, जोड़ी बनी ही रहे।"

"जो तलवार कुमार ! आज वह भी बूटों तले आपके
अच्छा हो यदि सात टूक करके वो आप पर वार दें

है स्वातंत्र्य नहीं, तथा उसकी छाया खड़ी सोचती
ऐसा तो न कहो कुमार जिसको विद्रोह माने कहो"

'रवि' कविता ब्रजभाषा में है और इसमें वैदिक ज्ञान के आधार पर सूर्य की विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त हिंदी की कुछ स्फुट कविताएँ, संस्कृत में लिखी कुछ कविताएँ तथा प्राकृत के सुभाषितों के हिंदी अनुवाद भी गुलेरी जी की पद्य-रचनाओं में सम्मिलित हैं। एक अन्य कविता उनके छद्मनाम 'एक बी. ए. ब्राह्मण' की छपी मिलती है। इसमें हिंदी की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डाला गया है और शिक्षित वर्गों के विदेशी भाषा-प्रेम पर व्यंग्य किया गया है। 'सोऽहं' शीर्षक की इस कविता में विदेशी भाषा के नशे में डूबे हुए व्यक्ति की मानसिकता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"हमें जाति की जरा न चाह,
नही देश की भी परवाह।
हो जावे सब भले तबाह,
हम जावेंगे अपनी राह।"

श्वेतांबर जैन कविकृत प्राकृत के कुछ सुभाषित 'वज्जालग्गम' के पैंतीस सुभाषितों का गीतिछंद और खड़ी बोली में अनुवाद हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत में भी कुछ कविताएँ लिखी हैं।

उपसंहार

गुलेरी जी के साहित्य-सृजन पर विचार करने के बाद हिंदी साहित्य के एक अद्‌भुत व्यक्तित्व की तस्वीर उभरती है। बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने लेखनी सम्हाली और फिर 19 वर्ष तक अनवरत लिखते गए। जीविका के लिए दो पदों पर काम करते हुए भी अध्ययन और लेखन में ऐसी सीमाओं को छुआ, जिनकी कल्पना कठिन है। इतिहास, पुरातत्त्व, लिपि-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, और साहित्य की विभिन्न विधाओं में उन्होने साहित्य सृजन किया। चार साल तक अल्प साधनों से एक साहित्यिक पत्रिका को चलाया और उसे एक अत्यंत सम्मानित पत्रिका बना दिया। ग्रंथमालाओ का संपादन किया। अपने समय की लगभग सभी पत्रिकाओं के लिए लिखा और साहित्य की सभी गतिविधियो मे सक्रिय भाग लिया। गहन अध्ययन, मौलिक चिंतन और सृजन के बल पर वे अपने समय के मूर्धन्य बुद्धि-जीवियों में गिने गए।

उन्होने अपने मित्रों को समय-समय पर जा पत्र लिखे, वे भी व्यंग्य-विनोद, अर्थ-गांभीर्य, लाक्षणिकता और भावप्रवणता के कारण साहित्य की निधि बन गये। उनके कुछ पत्रों के अंश पीछे दिए गए हैं। हाल ही में उनके पत्रों पर आधारित एक पुस्तक **'गुलेरी : पत्र साहित्य'** (सम्पादक : पं. झाबरमल्ल शर्मा) छपी है।

प्रगाढ़ पांडित्यपूर्ण निबंधों से लेकर छोटी-छोटी टिप्पणियों तक उन्होंने जो भी लिखा, उसमें मौलिकता का आग्रह बराबर बना रहा। उनकी ताजगी का रहस्य यही है कि उन्होंने किसी बात को जिस तरह कहा, उस तरह किसी और ने वह बात नहीं कही। संभवतः इसका कारण है कि वे किसी चीज से बँधकर नही रहे। न संस्कारों से, न विचारों से और न पांडित्य से। संस्कारों ने उन्हें कर्मकांडी पंडित बनाया किंतु अपने विचारों मे, अपने सृजन मे उन्होने किसी रूढ़ि को, किसी कर्मकांड को नहीं माना। जात-पाँत और स्त्रियों के अधिकारों के मामले में वे अपने समय के प्रगतिशील लोगों में थे। उनकी कहानियों के स्त्री-पात्र रोने-धोने और करुणा जगानेवाले नही है। सभी नारियाँ स्वावलंबी, प्रतिभा मे पुरुषों के समान और अधिकतर उनसे आगे बढ़ी हुई है। वेद-पुराण आदि प्राचीन साहित्य में डूबे

होने पर भी उनकी दृष्टि विज्ञान की उपलब्धियों के प्रति बराबर सजग रही। जीविका ने उन्हें राजभक्ति की डोर से बाँधे रखा लेकिन उनके मन को, उनकी लेखनी को जीविका की विवशता नहीं बाँध सकी। विचारों की स्वतंत्रता को उन्होंने सबसे बड़ा अधिकार माना और इसलिए उन्होंने किसी व्यक्ति, संस्था, सत्ता या सिद्धांत को अपने विचारों पर अंकुश नहीं लगानें दिया। विचार-स्वातंत्र्य के सबंध मे '**समालोचक**' में प्रकाशित निम्नलिखित टिप्पणी उनके जीवन का मृत्युपर्यन्त आदर्श रही—

> "यदि एक मनुष्य को छोड़कर सारे जगत् के मनुष्यों का एक मत हो और उस एक ही व्यक्ति का मत जगत् के विरुद्ध हो, तो मनुष्य जाति को उसे चुप कराने का उतना ही अधिकार नही है, जितना उसे सामर्थ्य हो तो मनुष्य जाति को चुप कराने का। यदि मत किसी व्यक्ति की घरू चीज हो, तो उसे रोकना या दबाना केवल व्यक्तिगत हानि है जो थोड़े या अधिक लोगों को पहुँचाए जाने के कारण हानिकारक हुई। किंतु किसी मत को प्रकाश न होने देने का परम पाप तो यह है कि संपूर्ण मनुष्य जाति को ऐसा करने से हानि पहुँचती है, वर्तमान सृष्टि और भावी सृष्टि को उस मत के अनुकूल और प्रतिकूल दोनो को हानि हुई।"

सुखमय जीवन (कहानी)

परीक्षा देने के पीछे और उसका फल निकलने के पहले के दिन किस बुरी तरह बीतते हैं, यह उन्हीं को मालूम है, जिन्हें उन्हें गिनने का अनुभव हुआ है। सुबह उठते ही परीक्षा से आज तक कितने दिन गए, यह गिनते हैं और फिर 'कहावती आठ हफ़्ते' में कितने दिन घटते हैं, यह गिनते हैं। कभी-कभी उन आठ हफ़्तों पर कितने दिन चढ़ गए, यह भी गिनना पड़ता है। खाने बैठे हैं और डाकिये के पैर की आहट आई—कलेजा मुँह को आया। मुहल्ले में तार का चपरासी आया कि हाथ-पाँव काँपने लगे। न जागते चैन न सोते—सपने में भी यह दिखता है कि परीक्षक साहब एक-आठ हफ़्ते की लंबी छुरी लेकर छाती पर बैठे हुए हैं।

मेरा भी बुरा हाल था। एल. एल. बी. का फल अबकी और भी देर से निकलनेवाला था—न मालूम क्या हो गया था, या तो कोई परीक्षक मर गया था, या उसको प्लेग हो गया था। उसके पर्चे किसी दूसरे के पास भेजे जाने को थे। बार-बार यही सोचता था कि प्रश्नपत्रों की जाँच किए पीछे सारे परीक्षकों और रजिस्ट्रारों को भले ही प्लेग हो जाए, अभी तो दो हफ़्ते माफ़ करें। नहीं तो परीक्षा के पहले ही उन सबको प्लेग क्यों न हो गया? रात भर नींद नहीं आई थी, सिर घूम रहा था। अखबार पढ़ने बैठा कि देखता क्या हूँ कि लिनोटाइप की मशीन ने चार-पाँच पंक्तियाँ उलटी छाप दी हैं। बस अब नहीं सहा गया—सोचा कि घर से निकल चलो, बाहर ही कुछ जी बहलेगा। लोहे का घोड़ा उठाया कि चल दिए!

तीन-चार मील जाने पर शांति मिली। हरे-हरे खेतों की हवा, कहीं पर चिड़ियों की चहचह और कुओं पर खेतों को सींचते हुए किसानों का सुरीला गाना, कहीं देवदार के पत्तों की सोंधी बास और कहीं उनमें हवा का सीं-सीं करके बजना—सबने मेरे चित्त को परीक्षा के भूत की सवारी से हटा लिया। बाइसिकिल भी ग़ज़ब की चीज है। न दाना माँगे न पानी, चलाए जाइए जहाँ तक पैरों में दम हो। सड़क पर कोई था ही नहीं, कहीं-कहीं किसानों के लड़के और गाँव के कुत्ते पीछे लग जाते थे। मैंने बाइसिकिल को और भी हवा कर दिया। सोचा कि मेरे घर सितारपुर से पंद्रह मील पर कालानगर है—वहाँ की मलाई की बरफ़ अच्छी

होती है और वहीं पर मेरे एक मित्र रहते हैं, वे कुछ सनकी हैं। कहते हैं कि जिसे पहले देख लेंगे, उससे विवाह करेंगे। उनसे कोई विवाह की बात करता है तो अपने सिद्धांत के मंडन का व्याख्यान देने लग जाते हैं। चलो, उन्हींसे सिर खाली करें।

खयाल-पर-खयाल बँधने लगा। उनके विवाह का इतिहास याद आया। उनके पिता कहते थे कि सेठ गनेशलाल की इकलौती बेटी से अबकी छुट्टियों में तुम्हारा ब्याह कर देंगे। पड़ोसी कहते थे कि सेठजी की लड़की कानी और मोटी है और आठ ही बरस की है। पिता कहते थे कि लोग जलकर ऐसी बातें उड़ाते हैं, और लड़की वैसी हो भी तो क्या, सेठजी के कोई लड़का है नहीं, बीस-तीस हजार का गहना देंगे। मित्र महाशय मेरे साथ-साथ पहले डिबेटिंग क्लबों में बाल-विवाह और माता-पिता की जबरदस्ती पर इतने व्याख्यान झाड़ चुके थे कि अब मारे लज्जा के साथियों में मुँह नहीं दिखाते थे। क्योंकि पिताजी के सामने चीं करने की हिम्मत नहीं थी। व्यक्तिगत विचार से साधारण विचार उठने लगे। हिंदू-समाज ही इतना सड़ा हुआ है कि हमारे उच्च विचार कुछ चल ही नहीं सकते। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। हमारे सद्‌विचार एक तरह के पशु हैं जिनकी बलि माता-पिता की ज़िद और हठ की वेदी पर चढ़ाई जाती है।···भारत का उद्धार तबतक नहीं हो सकता···।

फिस्स्स्! एकदम अर्श से फ़र्श पर आ गिरे। बाइसिकिल की फूंक निकल गई। कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर। पंप साथ नहीं था और नीचे देखा तो जान पड़ा कि गाँव के लड़कों ने सड़क पर ही काँटों की बाड़ लगाई है। उन्हें भी दो गालियाँ दीं पर उससे तो पंक्चर सुधरता नहीं। कहाँ तो भारत का उद्धार हो रहा था और कहाँ अब कालानगर तक इस चरखे को खींच ले जाने की आपत्ति से कोई निस्तार नहीं दिखता। पास के मील के पत्थर पर देखा कि कालानगर यहाँ से सात मील है। दूसरे पत्थर के आते-आते मैं बेदम हो लिया था। धूप जेठ की और कंकरीली सड़क, जिसमें लदी हुई बैलगाड़ियों की मार से छः-छः इंच शक्कर की-सी बारीक पिसी हुई सफेद मिट्टी बिछी हुई। काले पेटेंट-लेदर के जूतों पर एक-एक इंच सफेद पालिश चढ़ गई। लाल मुँह को पोंछते-पोंछते रुमाल भीग गया और मेरा सारा आकार सभ्य विद्वान-सा नहीं वरन् सड़क कूटनेवाले मजदूर-सा हो गया। सवारियों के हम लोग इतने गुलाम हो गए हैं कि दो-तीन मील चलते ही छठी का दूध याद आने लगता है।

(2)

"बाबूजी, क्या बाइसिकिल में पंक्चर हो गया है?"

एक तो चश्मा, उसपर रेत की तह जमी हुई, उसपर ललाट से टपकते हुए पसीने की बूंदें, गर्मी की चिढ़ और काली रात की-सी लंबी सड़क—मैंने देखा ही

नहीं था कि दोनो ओर क्या है। यह शब्द सुनते ही सिर उठाया तो देखा कि एक सोलह-सत्रह वर्ष की कन्या सड़क के किनारे खड़ी है।

"हाँ, हवा निकल गई है और पंक्चर भी हो गया है। पम्प मेरे पास है नहीं। कालानगर कुछ बहुत दूर तो है ही नहीं—अभी जा पहुँचता हूँ।"

अंत का वाक्य मैंने सिर्फ़ ऐंठ दिखाने के लिए कहा था। मेरा दिल जानता था कि पाँच मील पाँच सौ मील के-से दिख रहे थे।

"इस सूरत से तो आप कालानगर क्या कलकत्ता पहुँच जाएँगे। ज़रा भीतर चलिए कुछ जल पीजिए। आपकी जीभ सूखकर तालू से चिपट गई होगी। चाचाजी की बाइसिकिल में पम्प है और हमारा नौकर गोविंद पंक्चर सुधारना भी जानता है।"

"नहीं, नहीं···"

"नहीं-नहीं क्या, हाँ, हाँ।"

यों कहकर बालिका ने मेरे हाथ से बाइसिकिल छीन ली और सड़क के एक तरफ़ हो ली। मैं भी उसके पीछे चला। देखा कि एक कँटीली बाड़ से घिरा बगीचा है, जिसमे एक बँगला है। यही पर कोई 'चाचाजी' रहते होंगे परंतु यह बालिका कैसी···"

मैंने चश्मा रूमाल से पोंछा और उसका मुँह देखा। पारसी चाल की एक गुलाबी साड़ी के नीचे चिकने काले बालो से घिरा हुआ उसका मुखमंडल दमकता था और उसकी आँखें मेरी ओर कुछ दया, कुछ हँसी और कुछ विस्मय से देख रही थी। बस, पाठक ! ऐसी आँखें मैंने कभी नहीं देखी थीं। मानो वे मेरे कलेजे को घोलकर पी गई ! एक अद्‌भुत कोमल शांत ज्योति उनमे से निकल रही थी। कभी एक तीर में मारा जाना सुना है ? कभी एक निगाह में हृदय बेचना पड़ा है ? कभी तारामैत्रक और चक्षुमैत्री नाम आए हैं ? मैंने एक सेकेंड में सोचा और निश्चय कर लिया कि ऐसी सुंदर आँखें त्रिलोकी में न होंगी और किसी स्त्री की आँखों को प्रेम-बुद्धि से कभी देखूँगा तो इन्हीं को।

"आप सितारपुर से आए हैं ? आपका नाम क्या है ?"

"मैं जयदेवशरण वर्मा हूँ। आपके चाचाजी···"

"ओहो, बाबू जयदेवशरण वर्मा बी. ए.; जिन्होंने 'सुखमय जीवन' लिखा है ? मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आपके दर्शन हुए। मैंने आपकी पुस्तक पढ़ी है और चाचाजी तो उसकी प्रशंसा बिना किए एक दिन भी नहीं जाने देते। वे आपसे मिल कर बहुत प्रसन्न होंगे, बिना भोजन किए आपको न जाने देंगे और आपका ग्रंथ पढ़ने से हमारा परिवार-सुख कितना बड़ा है इसपर कम-से-कम दो घंटे तक व्याख्यान देंगे।"

स्त्री के सामने उसके नैहर की बड़ाई कर दे और लेखक के सामने उसके ग्रंथ

की—यह प्रिय बनने का अमोघ मंत्र है। जिस साल मैंने बी. ए. पास किया था, उस साल कुछ लिखने की धुन उठी थी। लॉ कॉलेज के फर्स्ट इयर मे सेक्शन और कोड की परवाह न करके एक 'सुखमय जीवन' नाम की पोथी लिख चुका था। समालोचकों ने आड़े हाथों लिया था और वर्ष भर में सत्रह प्रतियाँ बिकी थीं। आज मेरी क़दर हुई कि कोई सराहनेवाला तो मिला।

इतने में हम लोग बरामदे में पहुँचे जहाँ पर कनटोप पहने, पंजाबी ढंग की दाढ़ी रखे एक अधेड़ महाशय कुर्सी पर बैठे पुस्तक पढ़ रहे थे। बालिका बोली—

"चाचाजी, आज आपके बाबू जयदेवशरण वर्मा बी. ए. को साथ लायी हूँ। इनकी बाइसिकिल बेकाम हो गई है। अपने प्रिय ग्रंथकार से मिलाने के लिए कमला को धन्यवाद मत दीजिए, दीजिए उनके पम्प भूल आने को।"

वृद्ध ने जल्दी ही चश्मा उतारा और दोनों हाथ बढ़ाकर मुझसे मिलने के लिए पैर बढ़ाए।

"कमला, ज़रा अपनी माता को तो बुला ला। आइए, बाबू साहब आइए। मुझे आपसे मिलने की बडी उत्कंठा थी। मैं गुलाबराय वर्मा हूँ। पहले कमसेरियट में हेड-क्लर्क था। अब पेंशन लेकर इस एकांत स्थान में रहता हूँ। दो गौ रखता हूँ और कमला तथा उसके भाई प्रबोध को पढ़ाता हूँ। मैं ब्रह्मसमाजी हूँ और मेरे यहाँ परदा नहीं है। कमला ने हिंदी मिडिल पास कर लिया है। हमारा समय शास्त्रों के पढ़ने में बीतता है। मेरी पत्नी भोजन बनाती और कपड़े सी लेती है, मैं उपनिषद् और योगवासिष्ठ का तर्जुमा पढ़ा करता हूँ। स्कूल मे लड़के बिगड़ जाते हैं, प्रबोध को इसीलिए घर पर पढ़ाता हूँ।"

इतना परिचय दे चुकने पर वृद्ध ने श्वास लिया। मुझे भी इतना ज्ञान हुआ कि कमला के पिता मेरी जाति के हैं। जो कुछ उन्होंने कहा था, उसकी ओर मेरे कान नहीं थे— मेरे कान उधर थे, जिधर से माता को लेकर कमला आ रही थी।

"आपका ग्रंथ बड़ा ही अपूर्व है। दाम्पत्य सुख चाहनेवालों के लिए लाख रुपये से भी अनमोल है। धन्य है आपको! स्त्री को कैसे प्रसन्न रखना, घर में कलह कैसे नही होने देना, बाल-बच्चों को क्योंकर सच्चरित्र बनाना, इन सब बातों मे आपके उपदेशों पर चलनेवाला पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सुख भोग सकता है। पहले कमला की माँ और मेरी कभी-कभी खटपट हो जाया करती थी। उसके ख्याल अभी पुराने ढंग के हैं, पर जबसे मैं रोज भोजन के पीछे उसे आध घंटे तक आपकी पुस्तक का पाठ सुनाने लगा हूँ, तबसे हमारा जीवन हिंडोले की तरह झूलते-झूलते बीतता है।"

मुझे कमला की माँ पर दया आई, जिसको वह कूड़ा-करकट रोज़ सुनना पड़ता होगा। मैंने सोचा हिंदी के पत्र-संपादकों में यह बूढ़ा क्यों न हुआ? यदि होता तो आज मेरी तूती बोलने लगती।

"आपको गृहस्थ जीवन का कितना अनुभव है! आप सब कुछ जानते हैं! भला, इतना ज्ञान कभी पुस्तकों से मिलता है? कमला की माँ कहा करती थी कि आप केवल किताबों के कीड़े हैं, सुनी-सुनाई बातें लिख रहे हैं। मैं बार-बार कहता था कि इस पुस्तक के लिखनेवाले को परिवार का खूब अनुभव है। धन्य है आपकी सहधर्मिणी! आपका और उसका जीवन कितने सुख से बीतता होगा! और जिन बालकों के आप पिता है, वे कैसे बड़भागी हैं कि सदा आपकी शिक्षा में रहते हैं, आप जैसे पिता का उदाहरण देखते हैं।"

कहावत है कि वेश्या अपनी अवस्था कम दिखाना चाहती है और साधु अपनी अवस्था अधिक दिखाना चाहता है। भला, ग्रंथकार का पद इन दोनों में किसके समान है? मेरे मन में आई कि कह दूं अभी मेरा पच्चीसवाँ वर्ष चल रहा है, कहाँ का अनुभव और कहाँ का परिवार? फिर सोचा ऐसा कहने से ही मैं वृद्ध महाशय की निगाहों से उतर जाऊँगा और कमला की माँ सच्ची हो जाएगी कि बिना अनुभव के छोकरे ने गृहस्थ के कर्तव्य-धर्मों पर पुस्तक लिख मारी है। यह सोचकर मैं मुसकरा दिया और ऐसी तरह मुँह बनाने लगा कि वृद्ध समझा कि अवश्य मैं संसार-समुद्र में गोते मारकर नहाया हुआ हूँ।

(3)

वृद्ध ने उस दिन मुझे जाने नहीं दिया। कमला की माता ने प्रीति के साथ भोजन कराया और कमला ने पान लाकर दिया। न मुझे अब कालानगर की मलाई की बरफ की याद रही और न सनकी मित्र की। चाचा जी की बातों में फी सैकड़े सत्तर तो मेरी पुस्तक और रामबाण लाभों की प्रशंसा थी, जिसको सुनते-सुनते मेरे कान दुख गए। फी सैकड़ा पच्चीस वह मेरी प्रशंसा और मेरे पति-जीवन और पितृ-जीवन की महिमा गा रहे थे। काम की बात बीसवाँ हिस्सा थी, जिससे मालूम पड़ा कि अभी कमला का विवाह नहीं हुआ है, उसे अपनी फूलों की क्यारी सम्हालने का बड़ा प्रेम है, वह सखी के नाम से 'महिला मनोहर' मासिक पत्रिका में लेख भी दिया करती थी।

सायंकाल को मैं बगीचे में टहलने निकला। देखता क्या हूँ कि एक कोने में केले के झाड़ों के नीचे मोतिये और रजनीगंधा की क्यारियाँ हैं और कमला उनमें पानी दे रही है। मैंने सोचा कि यही समय है। आज मरना है या जीना है। उसको देखते ही मेरे हृदय में प्रेम की अग्नि जल उठी थी और दिन भर वहाँ रहने से वह धधकने लग गई थी। दो ही पहर में मैं बालक से युवा हो गया था। अंग्रेजी महाकाव्यों में, प्रेममय उपन्यासों में और कोर्स के संस्कृत नाटकों में जहाँ-जहाँ प्रेमिका-प्रेमिक का वार्तालाप पढ़ा था, वहाँ-वहाँ का दृश्य स्मरण करके वहाँ-वहाँ के

वाक्यों को घोख रहा था पर यह निश्चय नहीं कर सका कि इतने थोडे परिचय पर भी बात कैसे करनी चाहिए। अंत को अंग्रेजी पढ़नेवाले की धृष्टता ने आर्य-कुमार की शालीनता पर विजय पायी और चपलता कहिए, बेसमझी कहिए, ढीठपन कहिए, पागलपन कहिए, मैंने दौड़कर कमला का हाथ पकड़ लिया। उसके चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई और डोलची उसके हाथ से गिर पड़ी। मैं उसके कान में कहने लगा—

"आपसे एक बात कहनी है।"

"क्या? यहाँ कहने की कौन-सी बात है?"

"जबसे आपको देखा है तबसे···"

"बस, चुप करो। ऐसी धृष्टता!"

अब मेरा वचन-प्रवाह उमड़ चुका था। मैं स्वयं नहीं जानता था कि मैं क्या कह रहा हूँ पर लगा बकने, "प्यारी कमला, तुम मुझे प्राणों से बढ़कर हो; प्यारी कमला, मुझे अपना भ्रमर बनने दो। मेरा जीवन तुम्हारे बिना मरुस्थल है, उसमें मंदाकिनी बनकर बहो। मेरे जलते हुए हृदय में अमृत की पट्टी बन जाओ। जबसे तुम्हें देखा है, मेरा मन मेरे अधीन नहीं है। मैं तबतक शांति नहीं पाऊँगा जबतक तुम···"

कमला जोर से चीख उठी और बोली—"आपको ऐसी बातें कहते लज्जा नहीं आती? धिक्कार है आपकी शिक्षा को और धिक्कार है आपकी विद्या को! इसीको आपने सभ्यता मान रखा है कि अपरिचित कुमारी से एकांत ढूँढ़कर ऐसा घृणित प्रस्ताव करें! तुम्हारा यह साहस कैसे हो गया? तुमने मुझे क्या समझ रखा है? 'सुखमय जीवन' का लेखक और ऐसा घृणित चरित्र! चुल्लू भर पानी में डूब मरो। अभी चाचाजी को बुलाती हूँ।"

मैं सुनता जा रहा था। क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ? यह अग्नि-वर्षा मेरे किस अपराध पर? तो भी मैंने हाथ नहीं छोड़ा। कहने लगा, "कमला, यदि तुम्हारी कृपा हो जाय तो सुखमय जीवन···"

"देखा तेरा सुखमय जीवन! आस्तीन का साँप! पापात्मा!! मैंने साहित्य-सेवी जानकर और ऐसे उच्च विचारों का लेखक समझ कर तुझे अपने घर में घुसने दिया और तेरा विश्वास और सत्कार किया था। प्रच्छन्नपापिन्! बकदाम्भिक! बिडालव्रतिक। मैंने तेरी सारी बातें सुन ली हैं।" चाचाजी आकर लाल-लाल आँखें दिखाते हुए, क्रोध से काँपते हुए कहने लगे—"शैतान, तुझे यहाँ आकर मायाजाल फैलाने का स्थान मिला। ओफ़! मैं तेरी पुस्तक से छला गया। पवित्र जीवन की प्रशंसा में फार्मों के फार्म काले करनेवाले, तेरा ऐसा हृदय! कपटी! विष के घड़े···"

उनका धारा-प्रवाह भाषण बंद ही नहीं होता था, पर कमला की गालियाँ

ओर थी और चाचाजी की ओर। मैंने भी गुस्से में आकर कहा, "बाबू साहब, जबान सम्हाल कर बोलिए। आपने अपनी कन्या को शिक्षा दी है और सभ्यता सिखाई है, मैंने भी शिक्षा पायी है और कुछ सभ्यता सीखी है। आप धर्मसुधारक हैं। यदि मैं उसके गुणों और रूप पर आसक्त हो गया तो अपना पवित्र प्रणय उसे क्यों न बताऊँ? पुराने ढर्रे के पिता दुराग्रही होते सुने गए है। आपने क्यों सुधार का नाम लजाया है?"

"तुम सुधार का नाम मत लो। तुम तो पापी हो। 'सुखमय जीवन' के कर्त्ता होकर···"

"भाड़ में जाय 'सुखमय जीवन'! उसी के मारे नाकों दम है!! 'सुखमय जीवन' के कर्त्ता ने क्या शपथ खा ली है कि जन्म भर क्वाँरा ही रहे? क्या उसके प्रेम-भाव नहीं हो सकता? क्या उसमें हृदय नहीं होता?"

"हैं, जन्म भर क्वाँरा?"

"हैं काहे की? मैं तो आपकी पुत्री से निवेदन कर रहा था कि जैसे उसने मेरा हृदय हर लिया है वैसे यदि अपना हाथ मुझे दे दे तो उसके साथ 'सुखमय-जीवन' के उन आदर्शों को प्रत्यक्ष अनुभव करूँ, जो अभी तक मेरी कल्पना में है। पीछे हम दोनों आपकी आज्ञा माँगने आते। आप तो पहले ही दुर्वासा बन गए।"

"तो आपका विवाह नहीं हुआ? आपकी पुस्तक से तो जान पड़ता है कि आप कई वर्षों के गृहस्थ जीवन का अनुभव रखते है। तो कमला की माता ही सच्ची थीं।"

इतनी बातें हुई थीं पर न मालूम मैंने क्यों कमला का हाथ नही छोड़ा था। इतनी गर्मी के साथ शास्त्रार्थ हो चुका था, परन्तु वह हाथ जो क्रोध के कारण लाल हो गया था, मेरे हाथ में ही पकड़ा हुआ था। अब उसमें सात्त्विक भाव का पसीना आ गया था और कमला ने लज्जा से आँखें नीची कर ली थीं। विवाह के पीछे कमला कहा करती है कि न मालूम विधाता की किस कला से उस समय मैंने तुम्हें झटककर अपना हाथ नही खैंच लिया। मैंने कमला के दोनों हाथ खैंच-कर अपने हाथों के सम्पुट में ले लिये (और उसने उन्हें हटाया नहीं) और इस तरह चारों हाथ जोड़कर वृद्ध से कहा, "चाचाजी, उस निकम्मी पोथी का नाम मत लीजिए। बेशक कमला की माँ सच्ची हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक पहचान सकती है कि कौन अनुभव की बातें कह रहा है और कौन गप्पें हाँक रहा है। आपकी आज्ञा हो तो कमला और मैं दोनों सुखमय जीवन का आरंभ करें। दस वर्ष पीछे मैं जो पोथी लिखूंगा, उसमें किताबी बातें नही होंगी, केवल अनुभव की बातें होंगी।"

वृद्ध ने जेब से रूमाल निकालकर चश्मा पोंछा और अपनी आँखें पोंछी। आँखों पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आँसू थे या घर बैठे पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आँसू, राम जाने!

उन्होंने मुसकराकर कमला से कहा, "दोनों मेरे पीछे-पीछे चले आओ। कमला! तेरी माँ ही सच कहती थी।" वृद्ध बँगले की ओर चलने लगे। उनकी पीठ फिरते ही कमला ने आँखें मूँदकर मेरे कंधे पर सिर रख दिया।

(भरत मित्र, 1911)

शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन

पहले यह माना जाता था कि विद्या कोई बाहरी चीज़ है, जिसे गुरु पढ़नेवाले के हृदय में घुसेड़ता है। पढ़नेवाले का हृदय कोरा काग़ज़ है और उसपर गुरु नये अक्षर और नये संस्कार अंकित करता है। उसके ख़ाली मस्तिष्क में या पोले मन में कोई बहुमूल्य पदार्थ बाहर से भरा जाता है जैसाकि रहीम ने एक सुन्दर उपमा से कहा है—

रहिमन विद्या पढ़न में, बालक झोंका खाय।
तन घट अरु विद्या रतन, भरत हिलाय हिलाय॥

अथवा जैसे वैदिककाल की एक गाथा कहती है—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
एवं गुरुगतां विद्या शुश्रूषुरधिगच्छति॥

जैसे कुदाली से खोदते-खोदते आदमी को पानी मिल जाता है वैसे सेवा करने-वाले को गुरु से विद्या मिलती है।

पर यह आदर्श अब बदल गया है। विद्या कोई बाहरी चीज़ नहीं है, जो गुरु को बाहर से ठूंसकर भरनी पड़ती है। गुरु का काम शिष्य के हृदय की सोती हुई शक्तियों को जगाना है, उसके सहज और परंपरागत संस्कारों को चिताना है। पीढ़ियों से पशुत्व और मनुष्यत्व के जो भाव उसके मस्तिष्क में हैं, उन्हें उत्तेजित करना, उनमें जो हानिकारक हों उन्हें मिटाना और जो अच्छे हों उन्हें प्रबल करना, ये गुरु का काम है। गुरु धोबी के गधे को जौनपुर का काजी नहीं बना सकता। कथा के अनुसार वह फिर रस्सी देखकर दौड़ा चला जावेगा। गुरु बाहर से कुछ नहीं डालता, भीतर के अचेतन बलों को चमका देता है। गुरु का काम जिला करने वाले का, या रत्नों को घिसनेवाले का है, नयी वस्तु गढ़नेवाले का नहीं। भवभूति इस सत्य को कुछ-कुछ कह गया है—

वितरति गुरु प्राज्ञे विद्यां यथैव, तथा जड़े—
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।

भवति च यथोर्भूयान 'भेद' : फलंप्रति, तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः ॥

जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी हो, उसे जैसे सड़क पर छोड़ दिया और यह कह दिया कि इधर दाहिने हाथ जाना और बाएँ हाथ और उपनिषदों की भाषा में वह पंडित मेधावी गांधार देश को पहुँच जाएगा। वैसे ही गुरु मार्ग दिखा सकता है। अज्ञान तिमिरांध की आँखें वह ज्ञानांजन शलाका से खोल सकता है, जन्मांध को वह आँख नहीं दे सकता। विद्यार्थी अनगढ़ लकड़ी के कुंदे नहीं होते, वे पशु होते हैं, मनुष्य होते हैं। प्रकृति उन्हें शिक्षा दे रही है। गुरु का काम केवल प्रकृति की सहायता करना है। बल्कि बालक निचले नहीं बैठ सकते। जो गुरु उन्हें चित्र की तरह निस्पंदन बनाकर स्थिरोपवेश बनाना चाहता है, वह बड़ी भूल करता है। वह प्रकृति की चलती चक्की में कंकर डालता है, प्रवृत्ति के स्वाभाविक रस के स्रोत को सुखाता है। चतुर गुरु वह है जो उनकी इस प्रवृत्ति को उचित मार्ग में जोतकर वनस्पति विज्ञान, पदार्थ परिचय और सहयोगिता की शिक्षा देता है। पहले यह माना जाता था कि सीखनेवाले सिखाया जाना नहीं चाहते। रोते मुँह पाठशाला में जाते हैं और छूटते ही तीर की तरह भागते हैं। वे खेलना चाहते हैं। खेलने से ख़राब होने की धमकी और पढ़ने से नवाब होने की प्रलोभना कहावतों में उनकी आँखों के सामने नचाई जाती थी। अब यह सब बदल गया है। खेलना बड़ी भारी शिक्षा है। जितने मनुष्यत्व के अंग खेल में और खुले में सीखे जाते हैं, उतने गुरुजी की तंग कोठरी में पट्टी और खड़िया से नहीं। एक बात में पहले पंडित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का यत्न आदर्श माना जाता है। यह दूसरी बात है कि आजकल की शिक्षा में कुछ दोष बिना बुलाए आ घुसते हैं जैसे पहले की शिक्षा में गुण अकस्मात् आ जाते थे। यहाँ केवल आदर्शों का विचार है। व्यावहारिक गुण-दोष का नहीं। यही दावा है कि नयी आदर्श प्रणाली जैसी चाहिए वैसी यहाँ चल रही है। प्रत्युत् शिक्षा प्रणाली में यह देश बड़ी असमंजस में पड़ा हुआ है। न पुरानी चाल के अच्छे अंश ही रहे हैं और न नयी के गुण अभी चल सके हैं। इस लेख में केवल सिद्धांतों का विचार है।

विद्यार्थी पात्र (बरतन) माना जाता है। पर कुछ खोदनेवाले का-सा परिश्रम करने की उससे आशा की जाती है। ऊपर की वैदिक भाषा में 'शुश्रूषु' पर ध्यान दीजिए। जिस समाज में गुरु कुछ वेतन नही पाते थे, जहाँ विद्या का बेचना पाप था, वहाँ सेवा में शिष्यों को जोतना अर्थशास्त्र के अनुसार था। गुरु शिष्य के मन को सुधारने में जो श्रम करता था, उसका विनिमय (क्योंकि बदला अवश्य चाहिए चाहे वह माहवारी तनख्वाह हो, चाहे खेतों की रखवाली और समावर्तन के पीछे गुरु दक्षिणा की आशा) छात्रों की मेहनत से जो हो जाता था। संस्कृत का इतिहास इस सेवा के कितने ही उल्लेखों से भरा पड़ा है। कहीं गुरु बरसते पानी में शिष्य को

अपनी बह जानेवाली खेत की मेड़ बना देता है; कहीं वह चार सौ दुर्बल गायें उसे सौंपकर कहता है कि बिना हज़ार किए जंगल से मत लौटना : कहीं अपने वीर शिष्यों के द्वारा अपने पराजय का बदला किसी अभिमानी राजा से निकालना चाहता है और गुरुपत्नियाँ कहीं अपनी भूषणप्रियता से राजमहिषी के कुंडल मँगवाती हैं, कहीं विद्यार्थियों को गउओं का दूध पीना तो दूर रहा, बछड़ों के मुँह पर लगा झाग पीने से रोकती हैं : कहीं रगड़कर इतनी मज़दूरी लेती हैं कि विद्यार्थी पढ़ने को प्रणाम करके हिमालय में तपस्या करने चला जाता है और शिवजी को प्रसन्न करके जगत् भर से कहलाता है कि "हता: पाणिनिना वयम्", हमे पाणिनि ने मार डाला और विद्यार्थी पंडित होकर उस अपनी कठोर सेवा को प्रेम से याद करते हैं। मुरारि 'गुरुकुल क्लिष्ट' होने का अभिमान करता है और श्रीहर्ष अपनी कविता की गाँठें श्रद्धा से गुरुसेवा करनेवालों से खुलवाने की आशा करता है। पर इतना पानी भरने और लकड़ियाँ ढोने पर भी जिसे कुछ आ गया, उसे आ गया, गुरु का कुछ दायित्व नहीं। अब सारा पश्चिम गुरु के सिर पर है। यदि विद्यार्थी न समझे तो यह उसका दोष है, उसे समझाने का ढंग नहीं आता। वह बालक मनोविज्ञान से अनजान है। उसे प्रत्येक बालक के इतिहास से, उसके वंशगत विचारों से, उसकी रुचियों से, जानकार होना चाहिए, जिससे वह उनका सुधार कर सके।

यह संभव नहीं कि हर किसी को हर कोई पढ़ा ले। तभी तो कहा गया है कि "मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद"—जिसे माता, पिता और पीछे आचार्य सिखावे वही सीख सकता है। इसीसे तो कहा गया है कि 'पितैबोधनयेत् पुत्रम्' पिता ही पुत्र को सिखावे। जितनी बालक की प्रवृत्तियों की जानकारी माता को और उसके पीछे पिता को होती है, उतनी बाहर के किसी को हो सकती है? किंतु सभ्यता के कारण काम करने की शक्ति इतनी बिखर जाती है कि प्रत्येक पिता अपने पुत्र को नहीं पढ़ा सकता और यह श्रम विभाग का भी एक उदाहरण है कि सिखानेवालों का एक समूह पृथक् बन जाए। पुराने लोग अपने खेत में अन्न उपजाकर अपने लिए आप ही कपड़ा बुनते और लकड़ी काटने के लिए आप ही कुल्हाड़ी बनाकर चौकियाँ बना लेते हों, पर अब किसान और जुलाहा, लोहार और खाती का काम न्यारा-न्यारा है। पर पढ़ाने के काम में इतनी छीछालेदर है, जितनी किसी में नहीं। रोगी अपनी चिकित्सा आप नहीं करता और न वह चाहता है कि मेरे पुत्र की चिकित्सा अनाड़ी डॉक्टर करे। अपना रुपया हम ऐसे कोठी वाले के यहाँ नहीं रखना चाहते, जो धन विनियोग के सिद्धांतों को नहीं जानता हो। अपना मुकदमा हम स्वयं कचहरी में नहीं ले जाते और न ऐसे वकील को सौंपते हैं जो पैरवी न कर सकता हो। पर अपने बालकों की शिक्षा का भार हम या तो स्वयं उठाने का बहाना करते हैं या ऐसे लोगों को सौंपते हैं जो डॉक्टर या वकील

या और कुछ बनने में अयोग्य सिद्ध होकर लड़के पढ़ाना आरम्भ कर देते है। जो और पेशों में सफलता नही पा सकते उनके लिए मास्टरी का द्वार खुला है, ऑफ़िसों के क्लर्क अपने क़लम रगड़ने से फ़ुरसत के समय को लड़के पढ़ाने में लगाना चाहते है। और यह एक साधारण उक्ति है कि और कोई रोजगार नही हुआ तो चार लड़के ही पढा कर गुज़ारा करेंगे। शाहजहाँ ने भी तो अपनी क़ैद के दिनों में अपने सुपुत्र औरंगजेब से समय काटने के लिए पढाने को लड़के माँगे थे।

विश्वविद्यालय के नये उपाधिकारियों को गुरु बनाना नाई का हाथ जम जाए इसलिए अपना सिर छिलवाना है। यों रटाई होती है, पढ़ाई नही। पढ़ाना भी एक कला है, जिसे पूरी तरह न जाननेवाला निभा नहीं सकता। यों तो सिखाना कविता की तरह ईश्वर की देन है, सौ-सौ ट्रेनिंग स्कूलो मे धक्के खाने पर भी वह योग्यता नही हो सकती जो 'जन्म के गुरु' की होती है, पर आजकल पढ़ाना भी पढना चाहिए। पढ़ाने की परीक्षा होती है। समझाने का विज्ञान जानना पड़ता है। अच्छे पढ़ानेवालों का ढंग सीखना होता है। बालक मनोविज्ञान समझना होता है विकासवाद के तत्व टटोलने पड़ते है। समाजशास्त्र और प्राणिशास्त्र, ज्ञानतंतु-शास्त्र और आचारशास्त्र का मनन करना होता है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि अच्छा विद्वान अच्छा अध्यापक हो। कभी-कभी इसके विपरीत होता है। विद्वान अपने को बालकों की बुद्धि के पलड़े पर नही बिठा सकता, वह चौमजिले पर खड़ा खड़ा बालकों के क्षितिज के ऊपर देख सकता है। बालक छोटी-सी झड़बेरी के फल तोड़ सकते हैं, ऊँचे आम के नही।

'मारना' गुरुओं का एक अमोघ शस्त्र है। जो बात समझाने से किसी शिष्य के मन में न बैठे वह मारकर बिठाई जाए। हजरत सुलेमान कह गये है कि "लाठी को बचाओ और बालक को बिगाड़ो"। मनुस्मृति में शिष्य और पुत्र को मारने की मनाई नहीं है और भाष्यकार पतंजलि खंडिकोपाध्याय की चपेटिकाओं को जगह-जगह याद करके एक पुराने श्लोक को उद्धृत करते हैं, जिसके अनुसार चोर और गुरु के भयदायक पड़ोस से दूर रहने में ही भलाई कही गई है—

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपितोद्गुरोः॥

एक और स्थान पर उन्होंने गुरु के हाथों को अमृतमय कहा है, परन्तु ताड़न में गुण और लाड़ लड़ाने में दोष समझने की पुरानी कहावत है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥

'जोशी की चोट और विद्या की पोट' वाली कहावत के बल पर गुरु की 'मूरख समझावनी' राजदंड से भी बढ़कर चला करती थी। वर्तमान शिक्षा विज्ञान ने यह प्रतिभा भी तोड़ दी है। आजकल बालक को मारना एक कायरपन है, जिसका

सहारा यह जानकर कि बालक लट्ठ के जवाब में लट्ठ नहीं मार सकता, केवल का-पुरुष ही लेते हैं। आचरण संबंधी अपराधों में शासन के लिए मारने की उपयोगिता मानी गई है पर वह भी भय उपजाने के लिए और दंड की बुद्धि से पीड़ा पहुँचाने और बदला लेने की नीयत से नही। अधिक मार से बालक निर्लज्ज हो जाते हैं और बुद्धि के दोषों, न समझने और न याद रखने आदि पर शारीरिक दंड का प्रयोग अनुचित है। गुरु की आँख का दंड, साथियो के सामने हँसे जाने का दंड और गुरु के प्रसाद का पुरस्कार अब इस प्राचीन प्रथा को निर्दय और अनावश्यक सिद्ध करते जाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि पहले पंडित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का। पहले भाषा के जानने पर अनावश्यक जोर दिया जाता था, अब विषयो पर ध्यान है। लैटिन या ग्रीक या संस्कृत का कोश और व्याकरण की रटाई के भरोसे पढ़ना विद्या की सीमा थी। कितने वर्ष इस अलूनी शिला को चाटने में बीतते थे। अब भाषा पढ़ाई जाती है तो वह ज्ञान का लक्ष्य नही मानी जाती, ज्ञान का साधन मानी जाती है। भाषा भाषा की तरह कान और मुख को सिखाई जाती है, तोते की तरह स्मृति को नही। न अधिकारी और न अनधिकारी का भेद था। उदार शिक्षा और विशिष्ट अभ्यास मे कोई भेद नहीं किया जाता था। संस्कृत भाषा को भाषा समझकर नही पढा जाता था परन्तु प्रत्येक मनुष्य ही नागोजी भट्ट के लच्छेदार परिष्कारो में उलझकर रात बिताकर फिर सवेरे जहाँ से चला वही लघाई के भाड़े की कुटिया पर खड़ा मिलता था। तभी तो ज्ञानी पश्चाताप करते थे कि काल के आने पर 'डुकृज करणे' नही बचाता। जो समय शब्दों में बीतता था, वह भावो में लगाया जाता है। गणित, पदार्थ, विज्ञान, रसायन आदि की शिक्षा मनुष्यो मे क्यो और कैसे के प्रश्नों को नित्य जगाती जाती है। पहले जो आचार्य ने लिखा है वह बिना समझे ही मानना होता था, पीछे वर्षों के श्रम के बाद चाहे वह समझ में आवे, चाहे न आवे। अब गणित के नियम सूत्र या गुरु से नही सिखाए जाते, पचास सवाल करके स्वयं सूत्र या गुर निकालने के लिए शिष्य तैयार किया जाता है। स्मृति को अनावश्यक बोझ से लादा नहीं जाता, परंतु उसे जागती हुई समझ का जेबी बटुआ बनाया जाता है। इतिहास केवल तारीखों की कड़ी या राजाओं की नामावली नहीं रहा है, वह मनुष्यों के व्यवहारों के अनिष्फल परिणामों का अनुशीलन है। भूगोल केवल नदियों और शहरों की सूची नहीं है, वह जल, स्थल और ऋतुओं के परिवर्तन और बस्ती के बदलने के कारणों की खोज है। एक बात में हम छात्रावस्था मे मुँह में भरी हुई घास की जन्म भर जुगाली करते थे, अब काम की चीज़ों को चुन सकने और ले सकने के लिए तैयार कर दिये जाते है। अपनी खोज से पाया हुआ आलू दूसरे के दिये हुए जमीकंद से अच्छा है—इस सिद्धांत के लिए छात्र तैयार किए जाते है। गुरु का काम

साधारण और उदार शिक्षा से मन का मैल धो देना है, पीछे खोजी अपने आप जैसा रंग चाहे वैसा चढ़ा ले।

पहले जल्दी बहुत की जाती थी। आठ वर्ष की नियत अवस्था तक जिसे ब्रह्मचर्य पा सकने की प्रतीक्षा न थी, उसका उपनयन पाँच वर्ष की ही उमर में किया जा सकता था। पतंजलि ने आह भरकर कहा है कि "**वेदमधीत्यत्वरिताः प्रवक्तारो भवन्ति**" और मध्य समय के योरप के विश्वविद्यालयों में जितनी छोटी उम्र में डॉक्टर की पदवी पायी जाती थी, उतनी ही प्रतिष्ठा होती थी। यहाँ भी यह सारा घमंड मारा जाता है कि अमुक ने बारह वर्ष की अवस्था मे मैट्रिकुलेशन कर लिया था। इसका फल वही होता है जो बाल-विवाह का होता है। उधर दादा जी की गोदी में नाती खिलाने का सौभाग्य मिलता है, इधर दूध के दाँत टूटते न टूटते त्रिकोणमिति होने लगती है। अब सीखने की प्रकृत अवस्था आती है तब कमर झुक और आँख धँस चुकती है। प्रकृति का पृष्ठ खुलने के बदले बंद हो जाता है। वर्तमान शिक्षा शास्त्र समय को यों सरपट दौड़ाने की सम्मति नहीं देता। वह कहता है कि जब तक देह का पूरा विकास न हो ले तबतक मन को लादने का उद्योग न करो नही तो मिठाई के भार से छीके के टूटने का शोकमय नाटक अभिनीत होगा।

एक पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। मै भी वहाँ बुलाया गया था। वहाँ के प्रधान अध्यापक का एक मात्र पुत्र, जिसकी अवस्था आठ वर्ष की थी, बड़े लाड़ से नुमाइश में मिस्टर हादी के कोल्हू की तरह दिखाया जा रहा था। उसका मुँह पीला था, आँखें सफेद थीं, दृष्टि भूमि से उठती नहीं थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे। उनका वह उत्तर दे रहा था। धर्म के दस लक्षण वह सुना गया, नौ रसों के उदाहरण दे गया। पानी के चार डिग्री के नीचे शीतलता में फैल जाने के कारण और उससे मछलियों की प्राणरक्षा को समझा गया, चंद्र ग्रहण का वैज्ञानिक समाधान दे गया, अभाव को पदार्थ मानने न मानने का शास्त्रार्थ कह गया और इंगलैंड के राजा आठवें हेनरी की स्त्रियों के नाम और पेशवाओं का कुर्सीनामा सुना गया। यह पूछा गया कि तू क्या करेगा? बालक ने सीखा-सिखाया उत्तर दिया कि मैं यावज्जन्म लोक सेवा करूँगा। सभा वाह-वाह करती सुन रही थी, पिता का हृदय उल्लास से भर रहा था। एक वृद्ध ने उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा कि जो तू माँगे वही दें। बालक कुछ सोचने लगा। पिता और अध्यापक इस चिंता में लगे कि देखें यह पढ़ाई का पुतला कौन-सी पुस्तक माँगता है। बालक के मुख पर विलक्षण रंगों का परिवर्तन हो रहा था, हृदय में कृत्रिम और स्वाभाविक भावों की लड़ाई की झलक आँखों में दीख रही थी। कुछ खाँसकर, गला साफ़ कर नक़ली पड़दे के हट जाने पर स्वयं विस्मित होकर बालक ने धीरे से कहा, 'लड्डू'। पिता और अध्यापक निराश हो गए। इतने समय तक मेरा श्वास घुट रहा था।

अब मैंने सुख से साँस भरी। उन सबने बालक की प्रवृत्तियों का गला घोंटने में कुछ उठा नहीं रखा था। पर बालक बच गया। उसके बचने की आशा है क्योंकि वह 'लड्डू' की पुकार जीवित वृक्ष के हरे पत्तों का मधुर मर्मर था, मरे काठ की आलमारी की सिर दुखानेवाली खड़खड़ाहट नहीं।

—विद्यार्थी (सचित्र मासिक), भाग 1, अंक 9 (18 नवम्बर, 1914)

जालहंस की सभाषित मुक्तावली और चंद की षड्भाषा

सितंबर, सन् 1919 की 'सरस्वती' में श्रीयुत शिवदास गुप्त का एक लेख छपा है। जान पड़ता है कि लेखक संस्कृत समझते हैं और उसके रसिक भी हैं, तभी तो उन्हें कालिदास के मेघदूत के जोड़ के पवनदूत का आनंद आया और आनंद अपने ही तक न रखकर उन्होंने पाठकों को भी चखाया। जान पड़ता है वे हिंदी के प्रेमी और सेवक भी हैं, तभी तो उन्होंने पवनदूत के चुने हुए पद्यों का रस हिंदी में निचोड़कर दिखाया। जान पडता है कि वे कुछ अंग्रेजी भी जानते हैं तभी तो उन्होंने महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के खोज के परिश्रम की कद्र की और उसे सराहा। ऐसे प्रामाणिक लेखक के लेख से एक नया समाचार जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पवनदूत के श्लोको और अनुवाद का स्वाद तो जो मिला सो मिला एक और लोकोत्तर चमत्कार जान पड़ा। अबतक की संस्कृत-साहित्य की खोज में यह रत्न हाथ नही आया था। यश पुण्यों से मिलता है—देशी-विदेशी खोजियों को वह यश न मिला, जो श्रीयुत शिवदास गुप्त को मिला। वह महत्त्व की खोज, बड़ी भारी बात यह है कि लेखक ने एक नये ग्रंथ की सूचना दी है। दो जगह उस छोटे-से लेख में आप जालहंस की सुभाषित मुक्तावली का उल्लेख करते हैं। यह जालहंस बवजन राजहंस या कालहंस—संस्कृत-साहित्य में नया नाम है। सुभाषित संग्रह-कार कई नाम सुने गए। पर इस कविकीर्ति—संग्रहकार का नाम कभी सुना न गया। शिवदास जी से प्रार्थना है कि इस जालहंस का और उसकी सुभाषित मुक्तावली का और पता दें। इस परिचय के लिए हम तरस रहे है।

हम तो शिवदास जी गुप्त की इस नयी खोज की प्रशंसा मे मग्न हैं। क्या बात है! क्या बढ़कर बात निकाली है! इधर हमारे एक हँसोड़ मित्र कह रहे हैं कि जालहंस-बालहंस कोई नहीं है—रोमन लिपि का चमत्कार है और संस्कृत-साहित्य न जाननेवालों की अंग्रेजी या बँगला सूंघकर 'गवेषणापूर्ण' लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पाँचवे सवार बनने की धुन का परिहासमात्र दुष्परिणाम है।

जल्हण की मुक्तावली प्रसिद्ध है। कवियों के समय निर्णय करने में बड़े काम की वस्तु है। अंग्रेजी में रोमन लिपि में जल्हण की Jalhan's (षष्ठ्यंत) प्रयोग लिखा हुआ था और पादरी नोल्स साहब की दुलारी रोमन लिपि के तुफ़ैल से और संस्कृत की जानकारी न होने से जालहंस का जाल बिन जाने रचा गया। जैसेकि सोनगरा राजपूतों का नाम कर्नल टाड के राजस्थान में पढ़कर बंगाली अनुवादक ने सौ नगरों के स्वामी क्षत्रियों का जाति-नाम न समझकर अंग्रेज़ी अक्षर और बंगालियों के गोलमोल उच्चारण के भरोसे 'शनिग्रह' राजपूत कहकर अटकल लगाई कि सूर्य, चंद्र वंश की तरह शनिग्रहवंशी राजपूत भी होंगे और मुरादाबादी अनुवादक ने भी हिंदी व बंगला की वही साढ़ेसाती शनिश्चर की दशा राजपूतों पर ढा दी, वैसे ही लेखक के मन में जालहंस की किलोलें आरंभ हो गयीं।

इस तर्क का उत्तर मेरे पास कुछ नहीं है। जालहंस के नीर-क्षीर विवेक की प्रमाणस्वरूप सुभाषित मुक्तावली को कंठस्थ करने की मेरी इच्छा पर मित्र की समालोचना का सुदर्शनचक्र चल गया। मैंने केवल एक ही बात कही। मैंने कहा, "गीता के दर्शन शास्त्र को निचोड़ डालनेवाले लेखक भी पारसी धर्म का हाल लिखते समय जरथुश्त को जरथुश्ता और अहुरमज़्द को अहुरामज़्दा लिख देते हैं। जल्हंस को जालहंस पढ़नेवाले ने पवनदूत के सुंदर श्लोकों का स्वाद तो चखाया, आप जल्हण को जानते हैं, विल्हण को जानते हैं, कल्हण को जानते हैं—आपने हिंदी में एक बिंदी भी न लिखी। जो स्वयं कुछ लिखकर लोकज्ञान की मात्रा न बढ़ावे, उसके मुँह में जीभ कहाँ है कि अपनी समझ भला-बुरा लिखनेवालों पर नुक़्ताचीनी करें? साझी का पूत न कमावे न कमाने दे।

मेरे मित्र कहने लगे, "चंदवरदाई या उसके नाम से पृथ्वीराज रासो के बहुत-से अंशों को गढ़नेवाला कोई सोलहवीं सदी का मेवाड़ी चारण, एक जगह लिख गया है—'**षट्भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया।**'

इसपर हिंदी भाषा के इतिहास के अंधकारमय गगन के त्रिशंकु नवरत्नों के पारखी, 'विनोदकार' श्रीयुत मिश्रबंधु लिखते हैं (बहुवचन का प्रयोग यहीं सार्थक होता है) "परंतु अरबी और संस्कृत के अतिरिक्त चंद ने किन छः भाषाओं के शब्द रखे हैं, यह विचारना शेष है।" इसपर आप दर्जन से अधिक भाषाओं की परेड करके निर्णय करते हैं कि "प्राकृत और शौरसेनी के अतिरिक्त चंद मागधी, अवधी, राजपूतानी और पंजाबी के शब्दों का भी प्रयोग करता है और यही छः भाषाएँ हैं, जिनका वह संस्कृत और अरबी के अतिरिक्त प्रयोग करता है।" यह भाँग कुएँ में ऐसी घुली कि चंद की छः भाषाएँ पहेली बन गयीं। लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय। जो हिंदी-साहित्य के मन्यमान आदि कवि की बात करता है, वही इस षट्भाषा पर सिर धुनने लगता है। अरे बाबा! षट्रस, सप्तद्वीप, पंचमकार की तरह षट्भाषा कवियों का टकसाली संकेत है। त्रयी कहने से तीन वेदों का ग्रा

ग्रहण होता है, तीनों मिश्रबंधुओं का नहीं। षट्भाषा नियत है, रूढ़ है, परिचित है। मंख कविलोष्टदेव की प्रशसा करता है, "वंदनाबुरुहे यस्य भाषा षडधिशरते", जयानक कवि पृथ्वीराज का यश सराहता है, "जयंति सोमेश्वर-नंदनस्यषंण्णांगिरां शक्तिमतो यशांसि।" संस्कृत-साहित्य में जगह-जगह छः भाषाओं का मुहाविरा है कोई जाने और देखे तो। चंद ने भी गतानुगतिक रूप से वही मुहारिनी पढ़ दी है। 'षड्भाषाचंद्रिका' नामक प्राकृतव्याकरण का नाम तो सुना ही होगा? प्रसिद्ध षड्दर्शन में जैसे अटकल की गुंजाइश नहीं कि ये छः कौन-कौन-से है, वैसे चद के कथन में भी नही। अब भी षड्दर्शन की जमात, षड्दर्शन का अखाड़ा, षड्दर्शन का भोजन कहा जाता हैं। अवश्य ही साधुओं की जमात में षड्दर्शन के अ नुयायी चाहे हों चाहे न हों, टकसाली नाम षड्दर्शन चल गया है, वैसे ही चंद की भाषा में छः भाषाओं के प्रयोग छाँटने बैठना बाल की खाल निकालना है, चद मुहाविरे से पुराने ढंग पर 'षट्भाषा' कह गया। जैसे खड़ी बोली वालों के बोलों से तंग आकर ब्रजभाषा की मिठास की दुहाई देते समय आगरे के सत्यनारायण कविरत्न (परमेश्वर उन्हें स्वर्ग दे, सच्चे मार्मिक कवि थे) कह गए कि ब्रजभाषा को गँवारी कौन कह सकता है। जिसमें हरि ने माखन-रोटी माँगी। उस समय कविरत्न यह सोचने को न ठहरे कि जब कृष्ण रूप हरि माखन-रोटी माँगते होंगे उस समय यहाँ की भाषा सूरदास की भाषा न थी। या जैसे अपने 'वीर मणि' में मिश्रबंधु अपने पात्रों के मुँह से गुसाईं तुलसीदास जी की चौपाइयाँ कहलवाते है (यह द्विवचन है हाय! हिंदी में द्विवचन है ही नहीं) तो वे यह सोचने को नहीं ठहरते कि उनके उपन्यास की ऐतिहासिक पीठिका के लगभग दो सौ वर्ष पीछे गुसाईं जी रामायण लिखेंगे। यूँ ही चंद पुराने की चाल पर छः भाषाओं की दुहाई दे गया जैसे कि बूँदी के वंश भास्कर के कर्ता भीषण सूरजमल उन्नीसवी सदी में भी छः भाषाओं की चर्चा करते हैं। चंद की षड्भाषा में अब भी राजपूतानी और पंजाबी नही है और न भीषण सूरजमल की में राठ और डांग की मेवाड़ी। छः भाषाओं का पुराना श्लोक यह है:

संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥

मैंने फिर मित्र की वैखरी के प्रवाह को रोका। कहा—"यह तो अप्रसंग कथा है, आप पुराने फफोले फोड़ते हैं। आप यदि छः भाषा रूपी वाग्विलासिनियों के भुजंग हैं तो आप ही ने हिंदी का इतिहास क्यों न लिखा? जालहंस के होते हुए भी शिवदास गुप्त ने पवनदूत का स्वाद दिखाया (चखाया) और षट्भाषा न समझ कर भी मिश्रत्रय ने हिंदी का इतिहास तो बना दिया। आप काटने के लिए आरा ही है, गढ़ने के लिए कुम्हारटोला नहीं।"

('प्रतिभा' नवम्बर, 1918)

कछुआ-धरम

'मनुस्मृति' में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निंदा या असत्कथा हो रही हो वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या कहीं उठकर चला जाय। *यह हिंदुओं के या हिंदुस्तानी सभ्यता के कछुआ-धरम का आदर्श है।* ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरु के कलंक कथा के सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय बताये है। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय जो और देशों के सौ में नब्बे आदमियो को ऐसे अवसर पर पहले सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निंदा करनेवाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ ढाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नही करता। अश्वघोष महाकवि ने बुद्ध के साथ-साथ चले जाते हुए साधु पुरुषों को यह उपमा दी है :

देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम्

(अनार्यों द्वारा अपमानित महर्षि देश से उसी तरह चले जा रहे थे मानो धर्म ही चला जा रहा हो।)

अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं। धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। यह कर लेंगे कि दक्षिण के अप्रकाश देश का कोई अत्रि या अगस्त्य यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें···तबतक ही जबतक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दें···पर यह नही कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाढ़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया मे रहना चाहते थे, आर्य सप्त-सिंधुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते गये। विष्णु ने अग्नि और यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिए तीन गाड़ियाँ बनायी। उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आंज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिये हुए यह कारवाँ मूजवत् हिंदुकुश के एक-

मात्र दर्रे खैबर से होकर सिंधु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अम्भारि, बम्भारि, हस्त, सुहस्त, कृशन, शण्ड, मर्क मारते चले आते थे, वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गयी, पर तीन लंबी डग भरनेवाले विष्णु ने पीछे फिरकर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आये और यहाँ 'भ्रातृव्यस्य वधाय', 'सजातानां मध्यमेष्ठ्याय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो जम गये। जहाँ-जहाँ रास्ते में टिके थे, वहाँ-वहाँ यूप खड़े हो गये। यहाँ की 'सुजला-सुफला शस्यश्यामला' भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मूजवत् पहाड़ की सोमलता का चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई-कोई चिलकौआ नक़द नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राज़ी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौवें थीं। जैसे आजकल लखपति, करोड़पति, कहलाते हैं वैसे तब 'शतगु, सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने "नवग्वा, दशग्वा" पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहाँ पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमांत प्रान्त पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी जैसीकि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनो से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला मे सोम बेच दो। वह कहता कि वाह! सोमराजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बाल-बधू के लिए कहा था कि याही में बेटी और याही में बेटा, ऐसे वे भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता, उसके पास सोम की मानोपली थी और इन्हें बिना लिये सरता नहीं था। अंत को गौ का एक पाद, अर्ध होते-होते दाम तय हो जाते। भूरी आँखों वाली एक बरस की बछिया में सोमराजा खरीद लिये जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाये जाते। जैसे मुसलमानों के यहाँ सूद लेना तो हराम है पर हिंदू साहूकारों को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है, वैसे यह तो फ़तवा दिया गया कि "**पापोहि सोमविक्रयी**" पर सोम क्रय करना—उन्हीं गंधर्वों के हाथ गौ बेचकर सोम लेना—पाप नही कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गंधर्वों ने दाम बढ़ा दिये या सफ़र दूर का हो गया या रास्ते में डाके मारनेवाले 'वाहीक' आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाए, पर यह किसी को न सूझी कि सब प्रकार के जल-वायु की इस उर्वरा भूमि में कही सोम की खेती कर ली जाए, जिससे जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी माँ ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की

सीखों से देवता पतियाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में वाहीक आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश और आर्यावर्त की महिमा हो गयी और वह पुराना देश—"न तत्र दिवसं वसेत ! युगंधरे पयः पीत्वा कथं स्वर्गं गमिष्यति!"

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते-मारते तो नहीं, बेधर्म भी कर देते। बस समुद्र-यात्रा बंद। कहाँ तो राम के बनाये सेतु को देखकर ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जानेवाले द्विज का प्रायश्चित्त कराकर भी संग्रह बंद। वही कछुआ-धरम। ढाल के अंदर बैठे रहो।

पुर्तगाली यहाँ व्यापार करने आये। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। "विपुल जघनां को विहातुं समर्थः?" कुएँ पर सैकड़ों नर-नारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था ? कछुए को ढाल बल उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह नहीं सोचा कि अज्ञात पाप, पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़े फोड़ दें या कै ही कर डालें। गाँव के गाँव ईसाई हो गये। और दूर-दूर के गाँव के कछुओं को यह खबर लगी तो बंबई जाने में भी प्रायश्चित्त कर दिया।

हिंदू से कह दीजिए कि विलायती खांड खाने में अधर्म है। उसमें अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें या राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उनकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए। उनका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बढ़े। उसका केवल एक ही उत्तर होगा वह खांड खाना छोड देगा, बनी-बनायी मिठाई गौओं को डाल देगा, या बोरियाँ गंगा जी में बहा देगा। कुछ दिन बाद कहिए कि देशी खांड के बनानेवाले भी सफेद बूरा बनाने के लिए वही उपाय करते हैं। वह मैली खांड खाने लगेगा। कुछ दिन ठहर कर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खांड मैली करके बिक रही है वह गुड़ पर उतर आयेगा। फिर कहिए कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस की मैल का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा या मीठा ही खाना छोड़ देगा। वह सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात सेर की खांड छोड़कर डेढ़ सेर की कबतक खाई जायेगी, यह न सोचेगा कि बिना मीठे कबतक रहा जायेगा। यह न देखेगा कि उसकी-सी मति वाले शरबत न पीनेवालों की संख्या घटती-घटती दहाइयों और इकाइयों पर आ रही है, वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाक गाड़ी में यात्रा करनेवाला जून के महीने में झुलसते

हुए कंठ को बरफ़ से ठंडा किये बिना नहीं रह सकता। उसका कछुआपन कछुआ-भगवान की तरह पीठ पर मंदराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नये-नये रत्न निकलने के लिए नहीं है। उसका कछुआपन ढाल के भीतर और भी सिकुड़कर घुस जाने के लिए है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। अपनी-अपनी समझ है। संसार मे त्रिविध दुःख दिखायी पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किये जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनमे संतोष न हुआ तो सुने-सुनाये (आनुश्रविक) किये। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कड़ी गिन-गिनकर उपाय निकाला। बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा, किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पकड़ने और कच्ची दलीलों की सीवन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही शग़ल सही। किसी-न-किसी तरह कोई-न-कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा चोर क्या मारें चोर की माँ को ही न मारें! न रहे बाँस न बाजे बाँसुरी। यह जीवन ही तो सारे दुःखों की जड़ है। लगीं प्रार्थनाएँ होने—

"मा देहि राम! जननी जठरे निवासम्"; "ज्ञात्वेत्थं न पुनःस्पृशन्ति जननी गर्भेऽर्भकत्वं जनाः"

(हे राम, जननी के गर्भ मे निवास मत देना। ऐसा ज्ञान होने पर जननी के गर्भ का स्पर्श मनुष्यों को नहीं करना पड़ता।)

और यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते-कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़-बढ़कर बोले, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों, सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम-फिर सकते और समुद्र की मछलियाँ मार-मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अंधियारे में क्या खायेंगे, वहाँ जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है पर जहाँ राम के राज्यों में **"अकृष्टपच्या पृथ्वी पुटके-पुटके मधु"** बिना खेती के फसलें पक जायें और पत्ते-पत्ते में शहद मिले, वहाँ इतना वैराग्य क्यों?

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। कवि कहता है:

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥

महाशय यों ही घूमने निकले थे। सुरपुर में अफ़वाह पहुँची। बस, इंद्र ने झटपट किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखे बंद कर ली।

यह कछुआ धरम का भाई शुतुर्मुर्ग धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीछा कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आँखों से पीछा करनेवाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लंबा-चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया। कछुए ने हाथ-पाँव सिर भीतर डाल लिया।

इस लड़ाई में कम-से-कम पाँच लाख हिंदू आगे-पीछे समुद्र पार जा आए हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे। हनोज रोज अव्वल अस्त ! अभी पहला ही दिन है ! सिर रेत में छिपा है !

—प्रतिभा (दिसंबर, 1919)

जोड़ा हुआ सोना

कहते हैं कि हिंदुस्तान बहुमूल्य धातुओं की समाधि (क़ब्र) है। धातु यहाँ खिचकर चले आते हैं, फिर निकलते नहीं। और देशों में सोने के निकास को रोकने के लिए नियम बनते हैं, यहाँ निकास की कथा नहीं, आमद पर डाट लगानी पड़ती है। जैसे वैद्यों का बुभुक्षित पारद सोना चट कर जाता है और डकार तक नहीं लेता, वैसे यह देश भी सोना सोखता जाता है। यह अभी तक पता नहीं चला कि रेवतीरमण कितनी स्वर्ण हाला पी सकता है, इस स्पंज या ब्लाटिंग पेपर में कितना सोना सोखा जा सकता है। कहते हैं कि बढ़िया दस्तकारी का माल बाहर भेज-भेजकर बदले में सोने के सिक्के खींचकर हिंदुस्तान ने ही रोम के साम्राज्य का दिवाला निकाल दिया था। कुछ अंकशास्त्रियों के मत में प्रति चूल्हे की परिधि में और प्रति खटिया की तल में कुछ-न-कुछ सोना अवश्य है। उसका लेखा करोड़ों पर जा लगता है, यहाँ की चाल भी सोने का प्रेम सिखाती है। जनमते बालक को जीभ पर सोने की सलाई से शहद और घी चटाना 'गृह्यसूत्र' कहते हैं और मरते दम तुलसी, सोना मुँह में डाला जाता है, यों जीवन-मरण सोने के प्रेम में बीतता है।

सोना जोड़ने का एक अद्भुत उपाय इस देश ने निकाला है। यह है चलती-फिरती तिजोरियाँ, घूमती-फिरती पेटियाँ, दौड़ते-खेलते बैंक जहाँ सोना पास हुआ गले या सिर में टाँक दीजिए। बैंक प्रसन्न हो जाएँगे। बंकिम कटाक्षों को धन्यवाद देंगे। अठलाते दिखलाते फिरेंगे, संभाल रखेंगे, काम पड़ने पर जीती-जागती सोने की बेल से एक आध नग उतारकर काम चला लीजिए फिर सुविधा होने पर चढ़ा लीजिए। इन चलते-फिरते बैंकों के गलों तथा नाकों और जाँघों और हाथों में कितना कनक लदा हुआ है, इसका अंदाज करते हुए अंकशास्त्री भी हारते हैं। पिछले वर्षों से इनकी मात्रा बढ़ी है। जहाँ पीतल थी, वहाँ चाँदी चमकती है; जहाँ चाँदी थी, वहाँ स्वर्ण का वर्ण दमकता है।

इन खूँटियों से लदनेवाले सोना खरीदने से थकते नहीं। लोग कहते हैं कि देश ग़रीब है, सोने की खपत के अंकों को देखें तो यह मानने का साहस नहीं

होता। सोना 34 का था तब भी लेनेवालों ने लिया, लेना बंद नहीं हुआ। आजकल सरासर देख रहे हैं कि सोने का असली भाव 13 का है, पर सरकार 20-21 में बेचती है और लोग चट किए जाते हैं, फिर बाजार में 23-24 में बिकता है पर मिलता नहीं, पखवाड़े के पखवाड़े एक लाख कई हज़ार तोले बिकता है, पता नहीं कहाँ घुस जाता है। इस वड़वाग्नि में कितना सुवर्ण सागर खप जाता है, यह कौन कहे ?

सोने की खानें अमेरिका में बहुत अधिक हैं। अमेरिका को पहले-पहल सन् 1493 में कोलंबस ने पाया। इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले अमेरिका था ही नहीं, देश था किन्तु योरोपियन जातियाँ बाइबिल के अनुसार मानती थीं कि ज़मीन चपटी है और आकाश उस पर तंबू की तरह तना हुआ है।

अमेरिका का होना उसने दिखाया और आना-जाना बनाया। सोने की खानें आस्ट्रेलिया में हैं, अफ्रीका में हैं, कुछ भारत में भी है। अच्छा, तो सन् 1493 से संसार की खानों से तीन अरब पचास करोड़ पौंड का सोना निकल चुका है। इसमें से एक अरब पचास लाख का तो पिछले साल में निकला है। सन् 1493 से पहले भी संसार में बहुत कुछ सोना था ही। सोना कभी नष्ट नहीं होता। वैद्य लोग पारद में मिलाकर या खाक करके खिला डालें या शौकीन लोग पान के साथ वरकों के रूप में चट जाएँ, नहीं तो सोने का नाश नहीं होता। गीता के आत्मा की तरह न इसे शस्त्र काटते हैं, न आग जलाती है, न पानी गीला करता है, न वायु सुखाता है तो भी पिछले सोने की बात जाने दीजिए। तीन अरब पचास लाख सोना तो कम-से-कम दुनिया में है और पच्चीस साल पहले इससे लगभग आधा था। इन पच्चीस साल में हिंदुस्तान में इक्कीस करोड़ पचास लाख पौंड मूल्य का सोना आया। इसी में नौ करोड़ चालीस लाख पौंड के सिक्के भी हैं, जो सन् 1901 से यहाँ आए। एक अंक विद्याविशारद की कूत है कि आजकल हिंदुस्तान में 37 करोड़ 10 लाख पौंड का सोना है, जो संसार के सोने के लगभग दशमांश के बराबर है। लड़ाई के पहले पाँच वर्ष में यहाँ पर दस करोड़ पचास लाख पौंड खप गए थे, यह भी संसार की सुवर्ण मुद्रा पूंजी का दसवाँ हिस्सा है।

यह सोना दिखाई तो बहुत देता है पर यह भी याद रहे कि यहाँ पर जनसंख्या साढ़े इकतीस करोड़ है, इससे इतना सोना भी प्रति मनुष्य एक पौंड से कुछ ही ऊपर पड़ा। इंगलैंड के बैंकों में इतना सोना जमा है कि प्रति मनुष्य तीन पौंड से अधिक पड़ता है और वहाँ की चलती-फिरती बैंकों में भी आभूषणों के रूप में बहुत कुछ सोना होगा ही। अमेरिका के बैंकों और चलते-फिरते बैंकों में सिक्कों और आभूषणों के रूप में एक अरब सोना रखा हुआ है, जो प्रति मनुष्य दस पौंड पड़ता है। अब क्या बात ठहरी ? यदि भारतवासी सोना जोड़ने में दक्ष हैं तो

इंगलैंड वाले तिगुने दक्ष और अमेरिका वाले दस गुना दक्ष हैं—कानी का काजल भी खटकता है, नहीं तो जोड़ने में यह सभ्य देश भी इस गँवार किसानों की भूमि के पीछे नहीं है। हाँ, अंतर यह है कि उनकी निधि बैंकों में एकत्रित है जहाँ से व्यापार आदि का काम चलता है और इकट्ठी निधि का दबाव दूसरे देशों पर पड़ता है और हमारी निधि छल्लों, कंगनों और कर्णफूलों में बिखरी पड़ी है, जो दिखाई देती है पर काम नहीं आ सकती।

—प्रतिभा (जून, 1920)

हिंदी के प्रकाशमान नक्षत्र

मैं पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी के नाम से परिचित था, परतु उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ था। पत्र-व्यवहार भी नही था। पर एकाएक अवसर आ गया। 1911 में द्वितीय हिंदी-साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन प्रयाग में होना निश्चित हुआ। पहले सम्मेलन में पं. द्विवेदी जी काशी आकर भी सम्मिलित नहीं हुए। उसकी अलग ही कहानी है। वे मेरी ही कुटिया पर टिके थे। भला वे जिस कार्यक्रम में न जाएँ, वहाँ हम लोग कैसे जा सकते है।

द्वितीय सम्मेलन में परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ, अतः हम लोग बड़े उत्साह से काशी से चले। इस दल में आचार्य रामचद्र, केदारनाथ पाठक आदि थे। मेरे एक भाई साहब का इलाहाबाद में मकान था, मैंने उन लोगों को अपने साथ ही रहने का निमंत्रण दिया। मैंने बिना परिचय के ही गुलेरी जी को भी अपने साथ टिकने का आमंत्रण पहले से भेज रखा था। उन्होने अपनी साधुतावश उसे स्वीकार किया। बस, प्रयाग मे ही पहली बार उनसे मिलना हुआ। उसी समय से निर्व्याज प्रेम हो गया। खूब साहित्यिक चर्चा रही।

एक दिन हम लोग पं. श्रीधर पाठक से मिलने गए। वहाँ स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर चर्चा चल पड़ी। गुलेरी जी ने बड़ी दृढ़ता से कहा—कोई कारण नहीं कि हम लोग स्त्रियों को पुरुषों से नीचा समझे। मै उनके उदार विचारों से बहुत प्रभावित हुआ।

वही एक संध्या सैर करते हमने चद्रोदय का दर्शन किया। गुलेरी जी ने महाभारत का श्लोक पढ़ा—

ततः कुमुदनाथेन कामिनी गंड पांडुना।
नेत्रानंदेन चंद्रेण माहेंद्री दिगलंकृता॥

फिर कहने लगे कामिनी के गंडस्थल (कपोल) की पाडुता का अनुभव मुझे तब हुआ जब मैं बीकानेर गया और मैने वहाँ की सुदरियों को देखा।

फिर वे कई बार बनारस आए और मेरे ही अतिथि हुए। इसके बाद तो पत्र-व्यवहार का क्रम चलता रहा। वे जयपुर राज्य से संबद्ध थे। गुलेरी जी के पिता जयपुर के राजपंडित थे। इस प्रकार उनका राजस्थान से निकट का परिचय था।

बाद में वे अजमेर के राजकुमार के अभिभावक और मेयो कॉलेज में संस्कृत के प्रोफ़ेसर हो गए। उनकी पत्नी बराबर बीमार रहती थीं। वैद्यों ने उन्हें परवल का पथ्य बताया। राजस्थान में परवल की सब्जी नहीं मिलती। अत: उनके नियमित पत्र आते रहते और जबतक परवल बनारस की मंडी मे उपलब्ध होता रहता, मैं उन्हें भेजता रहता। एक पत्र में उन्होंने इसपर श्लेष भी किया है। मुझे स्वबल और अपने-आपको परवल बताया है।

एक बार मैंने हिंदी में प्रतिवर्ष एक सौ मौलिक पुस्तक प्रकाशित करने की योजना बनाई। पाठक जी की प्रेरणा भी थी। गुलेरी जी को ही संपादन का भार देना चाहा। वे बड़े व्यावहारिक व्यक्ति भी थे, इसमें आरंभशूरता है। पत्र में वे लिखते हैं—

"धीरे-धीरे ठाकुरां, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सींचणां, रुत आयां फल होय॥

एक बार वे कलकत्ते जा रहे थे। बड़ी आशा थी कि बनारस रुकेंगे, परंतु यह संभव न हुआ। उस प्रसंग के भी कई पत्र कला भवन में सुरक्षित हैं। मेरा पारिवारिक बाग हेस्टिंग्ज हाउस कहा जाता था। वारेन हेस्टिंग्ज ने प्राय: दो सौ वर्ष पूर्व बनारस में अड्डा जमाया। यही से उसने अवध के नवाबो को नष्ट करने के षड्यन्त्र रचे। बाद में इंगलैड में हेस्टिंग्ज पर मुकदमा चला और सारी संपत्ति छिन्न-भिन्न हो गई, नीलाम हुई। मेरे दादा ने उस उद्यान को नीलाम मे खरीद लिया। मैंने उसका नाम हसितांग गृह कर रखा था। अनेक पत्रों मे इस नाम पर भी गुलेरी जी की सुंदर उक्तियाँ है।

मैंने उन्हें अपने मसूरी वाले मकान पर भी कई बार बुलाया। वहाँ भाई मैथिलीशरण, काशीप्रसाद जायसवाल, मुंशी अजमेरी जी आदि आते।·· अच्छी साहित्यिक गोष्ठियाँ होती रहती। बार-बार प्रयत्न करने पर भी गुलेरी जी वहाँ न पधार सके। पत्रों में इसका भी उन्होंने कई बार उल्लेख किया है। प्रत्येक अवसर में उनका निश्छल हास्य छलकता रहता। वस्तुत: गुलेरी जी मे प्रकांड पांडित्य के साथ-साथ बड़ी सरसता भी थी। ये दोनों विशेषताएँ दुर्लभ व्यक्तियों में एकत्र होती हैं। संस्कृत का उनका पांडित्य अनंत था। फिर भी वे हिंदी के हार्दिक प्रेमी थे। वे यह मानते थे कि हिंदी संस्कृत से स्वतंत्र आंदोलन है।

मैंने मित्रों की प्रेरणा से भारत कला-परिषद् का कार्य प्रारंभ किया। उस समय मैंने बारह रु० प्रति वर्ष की सदस्यता के लिए उन्हें लिखा। उसका उन्होने जो आत्मीयतापूर्ण उत्तर दिया, वह भी एक पत्र में सुरक्षित है। उन्होंने लिखा रुपये क्या, सिर तक दे सकता हूँ।

उन दिनों मैं शाम को काशी क्लब में बैठा करता। वहाँ इधर-उधर की बात-

बीत में समय बीत जाता। सोचा कि क्यों न गुलेरी जी का सत्संग किया जाए। बरसात का मौसम था, एक दिन केले का गुच्छा लेकर गया। वे पहाड़ी भाषा में बोलते थे। उन्होंने अपनी लड़की को बुलाया और कहा—एदी गल्ल सुण्ण। मुझे ऐसी भ्रांति हुई कि वे कह रहे हैं—ए दिगे आशून। मैंने उनसे पूछा कि क्या आप घर में बंगला बोलते हैं, उन्होंने स्थिति बतलाई। उन्हें ज्वर-सा था। फिर दो एक दिन नहीं जा सका। सहसा एक दिन केदारनाथ पाठक ने बताया कि गुलेरी जी की अवस्था बहुत गंभीर है। विश्वास न हुआ। पर जब तक उनके यहाँ जाऊँ तबतक पता चला कि वे संसार छोड़कर चले गए।

गुलेरी जी की मृत्यु भी बड़ी नाटकीय स्थिति में हुई। उनके एक रिश्तेदार पं. नित्यानंद जी काशी के प्रमुख संस्कृत पंडित हुए। संयोगवश वे मेरे फुफेरे भाई बाबू यदुनाथप्रसाद जी के यहाँ आते-जाते थे। मान-सम्मान पाते। उनके पुत्र पं. पद्मनाभ जी की बहन गुलेरी जी के छोटे भाई जगद्धर जी को ब्याही थी। गुलेरी जी को जब ज्वर आया तो दुर्दैववश जगद्धर जी की पत्नी का देहांत हो गया। बीमार होते हुए भी गुलेरी जी दाह-संस्कार में सम्मिलित हुए परंतु ज्वर के कारण (दाह के उपरांत) स्नान करने की उनको हिम्मत न पड़ी। इसपर पं. नित्यानंद ने उन्हें ललकारा, तेरी भाभी मर गई है और तू स्नान नहीं करता। गुलेरी जी ने कहा, ले चांडाल, एक ब्राह्मण की हत्या करनी है तो ले। फिर वे गंगा में कूद पड़े। ज्वर कुपित हो गया और वे अच्छे न हो सके। इस प्रकार हिंदी का एक नक्षत्र अस्त हो गया। मैं भी पुनः काशी क्लब में अपनी संध्या बिताने लग गया।

☐ राय कृष्णदास

विद्वद्रत्न चंद्रधर शर्मा गुलेरी

अपने अध्ययन काल में जयपुर में कई वर्षों तक मुझे निवास करना पड़ा था। सन् 1906 ई० जुलाई में पहुँचकर मैं वहाँ महाराजा कॉलेज में प्रविष्ट हुआ और वहीं पढ़कर मैंने सन् 1908 में इंटर, सन् 1910 में बी. ए. परीक्षाएँ पास कीं। बी. ए. की परीक्षा इलाहाबाद में देने के बाद वहाँ से अपने देश पूर्व बंगाल ग्राम दनिया शाभाई के निकटवर्ती ज़िला मैमनसिंह चला गया था। आगे एम. ए. करने के लिए पढ़ने का विचार तो अवश्य था किंतु जयपुर रहकर नहीं।

प्रारंभ में जयपुर पहुँचकर मैं अस्थायी रूप से मेघनाथ भट्टाचार्य महाशय के

पास ठहरा था। तदनंतर राय बहादुर बाबू संसारचंद्र सेन महोदय (जो उस समय जयपुर राज्य के प्रधान अमात्य थे) के निवास स्थान पर स्थायी रूप से रहा। श्री भट्टाचार्य जी महाराजा कॉलेज के वाइस प्रिंसिपल पद पर प्रतिष्ठित थे। उस समय ज्ञात हुआ कि पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी महाराजा कॉलेज के ही एक अध्ययनशील प्रतिभाशाली स्नातक के रूप मे ख्यातिलाभ कर चुके है। उनका अपना घर जयपुर में होने के नाते समय-समय पर वे आते-जाते थे और अपने गुरुदेव मेघनाद जी से भी मिलने आते रहते थे। उस समय श्री मेघनाद भट्टाचार्य महाशय ने अपने स्नेहभाजन स्नातक गुलेरी जी से संबंध स्थापित करने की प्रेरणा मुझे दी। तदनंतर मैं उनके संपर्क में आया था। गुलेरी जी उन दिनों मेयो कॉलेज में खेतड़ी के राजा साहब के शिक्षक और अभिभावक नियुक्त होकर अजमेर रहने लगे थे।

अपनी पहली भेंट में ही मैं उनके पांडित्य से प्रभावित हुआ। आगे आत्मीयता बढ़ती गई। उनके कनिष्ठ सहोदर जगद्धर से मेरा सौहार्द था। यद्यपि वे मुझसे छोटे थे तो भी मित्रता में कमी नही थी। मैं चंद्रधर जी को बड़े भाई जैसा तथा जगद्धर जी को छोटे भाई समान मानता था। गुलेरी परिवार की यह विशेषता थी कि घर के छोटे-बड़े सभी संस्कृत मे वार्तालाप करते थे। पं. चंद्रधर जी तो बंगला भी जानतेथे। बगला भाषा की प्रसिद्ध पुस्तक चंद्रनाथ बसु रचित 'हिंदुत्व' नामक ग्रंथ का अनुवाद चंद्रधर जी ने किया था। इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ या नही, मुझे ज्ञात नहीं है।

सन् 1922 के लगभग जब वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राच्य विभाग के अध्यक्ष होकर आए तबह मारी परस्परपूर्व प्रेम-परंपरा अक्षुण्ण रही। पं. चंद्रधर जी भारतवर्ष के जाने-माने एक प्रख्यात विद्वद्रत्न थे। मेरे हृदय में उनके प्रति बड़ा श्रद्धापूर्ण स्थान है। दुःख है कि वे बहुत जल्दी असमय ही चले गए।

☐ **पं० गोपीनाथ कविराज**

बहुमुखी प्रतिभा के धनी निबंधकार

प. चंद्रधर शर्मा गुलेरी के नाम में 'चंद्रधर' शब्द होने से या 'शर्मा' होने से या कांगड़ा के गुलेर स्थान का होने से, न जाने किस कारण मेरा आकर्षण उनके प्रति विशेष हो गया। उनकी शैली हिंदी में सबसे निराली है। वैसी भाषा, वैसी व्यंजकता, वैसी मुहावरेदानी कहीं किसी में देखने को नहीं मिली। उनकी कहानी

पहले पढ़ी या 'पुरानी हिंदी' निबंध पढ़ा, यह भी स्मरण नही रहा। पर स्मरण है, पता भर चल जाय, गुलेरी जी ने कुछ कही लिखा है तो सारा काम छोड़कर उसे पाने और पढ़ने को लालायित हो जाया करता था। उनके लेख या टिप्पणी में नयी बात होती थी। जो स्थापना पहले की होती थी, उससे भिन्न स्थापना वह प्रायः किया करते थे। नया शोध, नयी खोज उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी सारी उपलब्धियों पर विचार करना यहाँ सभव नही। उसपर स्वतंत्र ग्रथ ही लिखा जा सकता है। उनके व्यक्ति-व्यंजक निबंधो को पढ़कर समझने में थोड़ी भी सावधानी न रखी जाये तो फिर कुछ का कुछ समझा जा सकता है। उनकी भाषा-शैली पर दृष्टि न रहे तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने माना है कि गद्य की कसौटी निबंध है। इसकी सत्यता उनके निबंधों से तो प्रमाणित होनी चाहिए। गुलेरी जी के निबंधों से तो सबसे अधिक सिद्ध होती है। आचार्य शुक्ल को समझना अपेक्षाकृत सरल है, पर गुलेरी जी के निबंधो के समझने मे विशेष कठिनाई होगी। जिसकी बुद्धि परिपक्व है, उसे शुक्ल जी के निबंधों को समझने में प्रयास करने की अपेक्षा नहीं। पर परिपक्वबुद्धि होकर भी जो बहुश्रुत नही है, उसे गुलेरी जी के निबंध केवल शैली की विशेषता दिखाकर रह जायेंगे। उनमें जो अनेक सकेत गर्भित हैं, उन्हें तभी समझा जा सकता है जब उनके सांकेतिक ग्रंथ स्थल देखे गये हों। 'अमंगल के स्थान पर मंगल शब्द' में व्याकरण की ऐसी-ऐसी बाते कही गयी है कि वैयाकरण के लिए उसमें जैसी सहजता है वैसी सबके लिए नही।

'घनानंद' की एक पक्ति में, मैं कई दिनों से उलझा था। उसका ठीक अर्थ ही नहीं समझ में आ रहा था। उन्होंने लिखा है—

तिहारे निहारे बिन प्रानिनि करत होरा,
बिहर अंगारिन मगारि हिय होरी-सो

नागरी प्रचारिणी सभा से जो 'रसखानि और घनानंद' मनोरंजन पुस्तकमाला में बाबू अमीरसिंह के संपादकत्व में प्रकाशित किया गया है। उसमें 'मगारि' के बदले 'मगरि' पाठ है और 'मगरि' को मगरी, मंगली, छोकड़ी बताया गया है। पर यह छोकड़ी मुझे जँचती नहीं थी। संयोग से मैं बनारस के एक प्रकाशक से मिलने हेतु गया। उसी दिन होली जलनेवाली थी। वह जयपुर के थे। मुझसे पूछने लगे कि आपके मुहल्ले में होली कितने बजे मंगलेगी। मैं दो क्षणों के लिए चुप रह गया तो उन्होंने समझा मैंने जो कहा है वह जयपुर की बोली है, अतः उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहा कि हमारे यहाँ होली जलने को होली मंगलना कहते हैं। मुझे गुलेरी जी का उक्त निबंध याद आया, जिसमें यह मुहावरा दिया गया है। बस, फिर क्या था! मैं समझ गया कि मंगलना से ही मगरना बना है।

मगरना का अर्थ जलना और मगारना का अर्थ जलाना हुआ। उक्त निबंध में तो 'चूल्हा' जलाने के प्रसंग में अनेक प्रयोगों की चर्चा की गयी है।

मैंने विधिवत हिंदी का एक ही ग्रंथ गुरुमुख से पढ़ा है। जिसका नाम 'राम-चरितमानस' है। इसमें अवध भाषा क्षेत्र के बहुत से प्रयोग हैं। जो उन्हें न जाने वह अवसर विशेष पर समुचित अर्थ कर ही नहीं सकता। यहाँ केवल उसी प्रयोग की चर्चा करनी है, जिसका संबंध गुलेरी जी से है। मानस के मेरे गुरु थे स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी, जिन्होंने स्वयं 'रामचरितमानस' एक महात्मा से पढ़ी थी। यह महात्मा भाषा के अच्छे मर्मज्ञ थे। लाला जी का प्राचीन हिंदी काव्य में गहरा प्रवेश था। उन्होंने निम्नलिखित अर्द्धाली का जो अर्थ मुझे बताया था वह उसके प्रचलित अर्थ से भिन्न था—

दसन गहेउ तिन कंठ ठुकारी। परिजन सहित संग निज नारी।

इसके पहले चरण का अर्थ अधिकतर लोग यही करते हैं—दाँतों में तिनका ग्रहण कर लो और गले मे कुठार लटका लो। यह सकेतित करो कि मैं पशु की भाँति आपकी शरण में हूँ। तिनका दाँत में इसीसे दबाकर आया हूँ और कुठारी या कुल्हाड़ी इसलिए लटका रखी है कि आप चाहे मारिये, चाहे छोड़िये। लोगों के ध्यान में परशुराम का प्रसंग आ जाता है—

कर कुठार आगे यह सीसा।

पर बात ऐसी नहीं है। 'कंठकुठार' कहते हैं गले के चारों ओर घूमी हुई रस्सी, कपड़ा, लोहे का तौक आदि। जो इस प्रकार गले में कपड़ा लपेटे वह कंठकुठारी कहलाता है। लाला जी स्वयं गले में दुपट्टा लपेटे रहते थे। वैसे ही जैसे मालवीय जी महाराज। गुलेरी जी भी वैसे ही दुपट्टा लपेटे रहते थे। कदाचित् इन्हें इसी से इसका ठीक अर्थ भी लग सका। जब 'पुरानी हिंदी' लेख में अपभ्रंश के भीतर झाँकती हिंदी का उदाहरण उन्होंने दिया तो उसमें एक पंक्ति यह आयी, 'कंठे पाग निवेश जाहु शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्।'

प्राचीन काल में शरणागति को संकेतिक करने के लिए (यदि दुपट्टा न हो) तो पगड़ी को ही खोलकर गले से लपेट लेते थे। यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की परंपरा में चला आ रहा है। इसीलिए गुलेरी जी ने उसके समानांतर रामचरित-मानस की उक्त अर्द्धाली उद्धृत कर दी। जो परंपरा से परिचित न होंगे, वे अपनी कल्पना भिड़ायेंगे।

इधर हिंदी में प्राचीन ग्रंथों या ग्रंथावलियों के पाठशोध का शौक़ बहुतों को चर्राया है। पर परंपरा से परिचित न होने के कारण वे पाठ भी ऊटपटांग देते हैं और अर्थ भी। एक स्थान पर कहीं 'साढ़े तीन' वज्र आ जाने पर एक सज्जन संकट में पड़ गये। उन्होंने देखा कि हनुमान इस प्रसंग में उपस्थित हैं। बस, फिर

क्या था उन्हीं की लंबी लांगूल को साढ़े तीन बार घुमा दिया। पर वास्तविकता यह है कि (परंपरा कहती है) दधीचि की हड्डी से वज्र बने। मनुष्य अपने हाथ से 'साढ़े तीन' हाथ का होता है। एक-एक हाथ की हड्डी से एक-एक वज्र। एक वज्र विष्णु का धनुष है। दूसरा शिव का पिनाक और तीसरा उन्हीं का गांडीव, जो अर्जुन को उन्होंने (शिव के) किरात (वेश) से युद्ध करने पर युद्ध-कौशल से प्रसन्न होकर दिया था। इन्द्र का वज्र भी आधा वज्र है। पूरा वज्र हड्डी के धनुष दंड को बीच से तोड़ देने से दो-दो बन सकते थे। पिनाक के दो टुकड़े हुए पर कैसे, क्या हुए उनका वज्रादि के रूप में उपयोग हुआ या नहीं, राम जाने! पर साढ़े तीन वज्रों की यही कथा प्रचलित है। किसी पुराण में होगी। अस्तु, बात गुलेरी जी की चलती थी और गुलेला दूसरों को लगने लगा।

जब संस्कृत में एम. ए. का अध्ययन कर रहा था अर्थात् उसके उत्तरार्द्ध में था तभी सुना कि विशाखदत्त का एक नाटक 'देवीचंद्र गुप्तम्' खंडित मिला है। देखा गुलेरी जी ने उसके आधार पर अद्भुत काम कर डाला है, जिसको इतिहासवालों को भी मानना पड़ा। आधी बात तो पक्की ही मान ली गयी। चंद्रगुप्त द्वितीय से पहले उसका भाई रामगुप्त भी कुछ समय के लिए गद्दी पर था, पर शराब में चूर रहनेवाला था। ज्ञालिल के आक्रमण के समय उसने अपनी रानी ध्रुवदेवी को शत्रु के यहाँ भेजने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। पर उसके बदले चंद्रगुप्त देवी का रूप धारण करके गया और अंत में प्रकट होकर शत्रु को मार डाला। गुलेरी जी ने 'काच' मुद्रा के नाम से प्रसिद्ध मुद्राओं के संबंध में, इसी प्रसंग में लिखा था कि 'राम' शब्द को पढ़ने की भूल से काच पढ़ा गया। इसे तो ऐतिहासिकों ने नहीं माना। पर रामगुप्त का गद्दी पर बैठना अब सभी ने स्वीकार कर लिया है। अर्थात् वह केवल साहित्य में ही नहीं, भाषाविज्ञान या शब्दानुशासन में ही नहीं, भारतीय इतिहास में भी पूरा अभिनिवेश रखते थे। और ऐसा कि अपनी स्थापनाओं को मनवा लेते थे। प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक इसी रामगुप्त के प्राकट्य को आधार बनाकर लिखा है।

कौन कह सकता है कि ऐसा सर्वतोमुखी प्रातिभ अल्पवय में इस लोक से उठ गया। जो उठने के पहले काशी विश्वविद्यालय के 'प्राच्यविद्या विभाग' में महा-विद्यालय का आचार्य भी था, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' ऐसी उच्च स्तर की शोध-पत्रिका का संपादक भी था, जिसने बड़े ही मनोरंजक और गंभीरता से भरे निबंध भी अनेक लिख डाले थे और जिसने कुछ अपने ढंग की कहानियाँ भी लिखी थीं। 'उसने कहा था' के जोड़ की दूसरी कहानी फिर कभी नहीं लिखी जा सकी। 'मैंने कहा' और 'तूने कहा' लिखनेवाले भी सामने आये पर नक़ल और असल में आकाश-पाताल का अंतर बना रहा।

गुलेरी जी तेजस्वी तो थे ही, मनस्वी भी थे। पहले संस्कृत के अध्यापकों को

सेंट्रल हिंदू कॉलेज या आर्ट्स कॉलेज के ऑफिस में जाकर और वहीं रजिस्टरमें हस्ताक्षर करके वेतन लेना पड़ता था। ये तो प्राचार्य (प्रिंसिपल) थे, इसलिए इन्हें तो कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। कार्यालय में स्थान ही कितना था। एक बार प्राचार्य महोदय उस समय वहाँ पहुँच गये, जब संस्कृत के बेचारे प्राध्यापक अधिक संख्या में वेतन लेने गये थे। गुलेरी जी ने देखा कि बड़े-बड़े विद्वानों की मौलिमाला जिनके चरणों में लोटने को लालायित रहती है, ऐसे-ऐसे पंडित यहाँ कार्यालय के किरानी के सामने खड़े हैं। उन्होंने उनसे निवेदन किया आप सब अपनी गद्दी पर चलिये। वेतन वहीं जायेगा। तबसे संस्कृत के विद्वानों को उनकी गद्दी पर ही नियत तिथि को वेतन मिलने लगा, उन्हें कार्यालय नहीं जाना पड़ता था।

पर हा हंत! गुलेरी जी का शरीरपात रूढ़िवादिता के आग्रह के कारण हो गया। उनके परिवार या संबंध में किसी की मृत्यु हुई। उस समय वह ज्वर में थे। शवयात्रा में जाने पर स्नान के लिए विवश किया गया। मैं नाम किसी का लिखना नहीं चाहता कि किसने हठधर्मिता की। पर 'अवश्यंभावी' होनी थी। उन्हें सन्निपात हो गया और वह बच न सके। उनके काशीवास से हाहाकार मच गया। मैं किसी की मृत्यु पर रोता नहीं। पर दो की मृत्यु पर रो पड़ा हूँ—एक पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निधन पर और दूसरे श्री चंद्रशेखर 'आजाद' की वीरगति ग्रहण करने पर। ऐसे पंडित और ऐसे वीर धरित्री पर थोड़े समय, अत्यल्पकाल तक ही रह पाते हैं। पर जिनसे भूमि का भार ही बढ़ता है, उन्हें लंबी वय मिलती है। तेजस्वी का तेज जीवन ज्योति में प्रखरता से जलकर शीघ्र समाप्त हो जाता है, मंद दीपक देर तक जलता रहता है। अपने को ही प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता. अन्यों को भला क्या प्रकाशित करेगा!

☐ पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र

द्विवेदी युग के सशक्त कहानीकार

गुलेरी जी से मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। वह मुझसे उम्र में काफ़ी बड़े थे। पर मैं उनके नाम से पूर्ण परिचित था। वह हिंदी के ही नहीं, संस्कृत के भी विद्वान थे। साहित्य के ही नहीं, दर्शन, ज्योतिष, पुरातत्त्व, इतिहास आदि के पारदर्शी विद्वान थे। वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वह काशी विश्वविद्यालय

में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष थे। अंग्रेज़ी में भी उनकी अबाध गति थी। वह एक संपादक भी थे। उनके संपादकत्व में निकलनेवाले 'समालोचक' में कई अंक मेरे देखने में आये हैं।

मेरी छात्रावस्था की बात है। तब हिंदी के लेखकों में अंग्रेजी की उच्च उपाधि प्राप्त लोगों की संख्या बहुत कम थी। गुलेरी जी उनमें से एक थे।

गुलेरी जी द्विवेदी युग के प्रतिनिधि लेखक तथा सशक्त कथाकार थे। मैंने भी उसी युग में लिखना शुरू किया था। द्विवेदी जी की सीख थी—कम लिखिये, प्रयत्न अच्छा लिखने का कीजिए। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था, "दो-चार कविता या लेख लिखकर भी आदमी अमर हो सकता है जबकि बहुत लिखने के बाद भी सौ पचास वर्षों के बाद किसी का नाम तक लोगों को याद नहीं रहता।"

कहानी के क्षेत्र मे कम लिखकर ज्यादा नाम कमानेवालों में एक गुलेरी जी भी थे। कहा जाता है उन्होंने केवल तीन कहानियाँ लिखी थी, जिनमे 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी प्रमुख है, जिसे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। मेरे देखने में उनकी यही कहानी आयी है। जब पढ़ता हूँ नयी जान पड़ती है।

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति, तदैव रूपं रमणीयतायाः (माघ)

रमणीयता की इस कसौटी पर गुलेरी जी की यह कहानी खरी उतरती है। कहानी के आरंभ में वे अमृतसर के व्यस्त बजार का ऐसा शब्द-चित्र खड़ा करते हैं कि वह सजीव हो उठता है। इसी बाजार में संयोगवश बारह वर्ष के एक लड़के की भेंट एक लड़की से होती है। लड़का सहज भाव से आकृष्ट होकर लड़की से पूछ बैठता है, "तेरी कुड़माई (सगाई) हो गयी न" लड़की "धत्" कहकर चली जाती है। यह रोज-रोज की बात हो गयी। यह कोरी जिज्ञासा थी या उसमें कोई और बात छिपी थी। एक दिन लड़की ने कहा, "हाँ, हो गयी।" तब लड़के का जो हाल हुआ, उससे बात उजागर हो गयी। बिना कुछ कहे ही तथ्य का आभास, यही तो कला है

हजारासिंह सूबेदार की पत्नी बन जाने पर उस लड़की के प्रति लड़के (लहनासिंह, जमादार) का वह भाव नहीं रहा। वह उसे माथा टेकता है। सूबेदारनी युद्धभूमि को जाते हुए अपने पति और पुत्र (हजारासिंह और बोधासिंह) की रक्षा का भार लहनासिंह को सौंपती है। लहनासिंह युद्धभूमि में अपने प्राण देकर भी उनकी रक्षा करता है। यह आत्मोत्सर्ग इसीलिए कि—उसने कहा था।

लहना सिंह के पूर्वापर के भावों का जरा विश्लेषण तो कीजिए, कितना अंतर है! प्रेम की कैसी उच्च परिणति है। प्रेम की पयोधि में वासना का ऐसा विलय कि उसका अता-पता तक नहीं चलता। वहाँ वासना ही कहाँ थी, वह तो एक स्वर्गीय प्रेम था।

वैषयिक प्रेम का चित्रण करने वाले कहानीकार, कलाकार भूलते हैं कि सच्ची कहानी या कला मानसिक विलास के स्वर से सर्वथा मुक्त होती है।

इस कहानी का रचनाकाल प्रथम विश्वयुद्ध के आसपास है। तब मेरी छात्रावस्था थी। लड़ाई यूरोप की भूमि पर लड़ी जा रही थी। पर यहाँ भारत में पल-पल में युद्ध-वार्ता की प्रतीक्षा रहा करती थी। भारतीय सैनिक हजारों की संख्या में फ्रांस और बेल्जियम की भूमि पर लड़ रहे थे। हम लोग नक्शा निकालकर युद्धस्थलों का पता लगाते थे। समाचार-पत्र लड़ाई की खबरों से भरे रहते थे। विद्वद्वर काशीप्रसाद जायसवाल के संपादकत्व में निकलनेवाले 'पाटलिपुत्र' में हमारे स्व. पूज्याग्र की 'रणनिमंत्रण' नामक कविता की धूम मची हुई थी।

श्रीगुलेरी जी की इस कहानी मे युद्धभूमि और युद्ध प्रसंग का जैसा विराट वर्णन पाया जाता है, जान पड़ता है लेखक प्रत्यक्षदर्शी हो। यह गुलेरी जी की लेखन कला का चमत्कार है।

☐ पं. मुकुटधर पाण्डेय